सप्त-द्वीप

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर का ९७ वाँ ग्रन्थ

सप्त-दीप

लेखक
रघुबीरसिंह डी० लिट्०

प्रकाशक
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग-बम्बई

पहली बार
जून, १९३८
मूल्य डेढ़ रुपया

मुद्रक—
श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा,
नागरी प्रेस, दारागंज,
प्रयाग।

समर्पण

देवी सरस्वती के
उन वरद पुत्रों को,
जिन्होंने
भारतीय-साहित्य-मन्दिर के
निर्माण में
अपना तन, मन, धन
अर्पण कर दिया ।

दो शब्द

अपने पुराने लेखों के इस संग्रह को पाठकों के सम्मुख रखते ज़रा हिचक होती है। ये लेख प्राय: सब कहीं न कहीं प्रकाशित हो चुके हैं। पुनः अब भी मुझे इस बात का पूरा-पूरा विश्वास न हो पाया है कि ये लेख कभी भी स्थायी हिन्दी-साहित्य में स्थान पा सकेंगे। तथापि मेरे मित्रों के विशेष आग्रह के ही कारण आज ये निबन्ध इस रूप में प्रकाशित होने जा रहे हैं।

इस अवसर पर इन लेखों के सम्बन्ध में दो शब्द लिखना अनुपयुक्त न होगा। इस संग्रह का प्रथम निबन्ध पहिले "वीणा" में "रूपराशि और मधुकण" शीर्षक लेख के भूमिकाभाग के रूप में छप चुका है, इसे स्वतन्त्र लेख के रूप में दे कर भी इसमें कोई खास अपूर्णता नहीं देख पड़ती है। "वह प्रतिज्ञा" कविवर बचनेश जी के "शबरी" काव्य की भूमिका के रूप में प्रकाशित हो चुका है। श्रीयुत बचनेश जी ने इस लेख को इस संग्रह में सम्मिलित करने की आज्ञा देकर मुझे अनुगृहीत किया है। "जब बादशाह खो गया था !" एक ऐतिहासिक कहानी है, जिसकी सब घटनाएँ सत्य हैं, केवल उन घटनाओं के अनुक्रम आदि में कहीं-कहीं परिवर्तन कर दिये गए हैं। इस कहानी को श्रीयुत दुलारेलाल जी भार्गव अपनी पत्रिका में स्थान दे चुके हैं। "सेवासदन से गोदान तक" एक साहित्यिक संस्मरणात्मक लेख है। यह निबन्ध अभी तक कहीं भी प्रकाशित नहीं हुआ है। उस महान कलाकार के प्रति मेरी यह तुच्छ श्रद्धांजलि है। "इतिहास-शास्त्र" लेख के विचार मेरे अपने हैं और मैं चाहता हूँ कि विचारवान विद्वान उन पर कुछ गौर करें। यह लेख भी पहिले "वीणा" में प्रकाशित हो चुका

है। "शिमला से" शीर्षक निबन्ध कोई दस वर्ष पहिले "सरस्वती" में प्रकाशित हुआ था। जब प्रथम बार साहित्यिक जीवन की ओर मैं आकृष्ट हो रहा था, उन्हीं प्रारंभिक दिनों में इस लेख की रचना हुई थी; तब मैं इसे अपना सर्वप्रथम सुन्दर निबन्ध मानता था और उस मोहपूर्ण भावना ने अब भी मुझे नहीं छोड़ा है। इस संग्रह का अन्तिम लेख "भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्व" 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में प्रकाशित हुआ था। इन सातों लेखों को संग्रहीत करते समय उनमें यत्र-तत्र परिवर्तन करने का विचार उठा था; किन्तु कई एक कारणों से यही उचित प्रतीत हुआ कि उनमें कोई भी परिवर्तन न किये जावें; जैसे वे पहिले प्रकाशित हुए थे वैसे ही आज भी वे छपने जा रहे हैं।

यदि इन लेखों के इस संग्रह से किसी भी प्रकार पाठकों का मनोरंजन हुआ तो मैं अपना तथा अपने प्रकाशकों का परिश्रम सफल समझूँगा। यहाँ मैं यह लिखे बिना नहीं रह सकता कि श्रीयुत नाथूराम जी 'प्रेमी' ने इसके प्रकाशन का भार स्वीकार कर मुझे अनुगृहीत किया है।

अक्षय-तृतीया,
सं० १९९५ वि०
"रघुबीर निवास",
सीतामऊ (मालवा)

रघुबीरसिंह

विषय-सूची

सप्त-दीप

आधुनिक हिन्दी काव्य

कविता में कवि का व्यक्तित्व ही निहित नहीं रहता परन्तु उस पर कवि के देश और काल की भी अमिट छाप विद्यमान रहती है। कविता कवि के हृदय से उठती है। मस्तिष्क में घनी-भूत होकर, भावावेश का वह स्वरूप-विहीन कुहासा जब इस ठोस जगत् में प्रवेश करता है, तब भाषा के ढाँचे में ढल कर एवं छन्द, गति, लय आदि की पच्चीकारी होने पर ही उसे वह स्वरूप प्राप्त होता है जिससे उसे कुछ स्थायी अस्तित्व मिल सके। उस भौतिक तथा बाह्य स्वरूप की रूपरेखा को निश्चित करने में ही नहीं किन्तु कवि के हृदय से निकलने वाले उस भावावेश पर भी देश-काल का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। ये बन्धन उस कविता के बहिर्स्वरूप को ही नहीं किन्तु उसके अन्तरङ्ग को भी निर्धारित करते हैं। कवि, सच्चा कवि, अपने देश-काल का सच्चा प्रतिनिधि होता है। मानव जीवन सम्बन्धी चिरस्थायी सत्य, वे अक्षय तत्व, प्रत्येक बार नवीन स्वरूप में भिन्न भिन्न कवियों के

मस्तिष्क में निर्मित होकर जन-समाज के सन्मुख समुपस्थित होते हैं। तत्कालीन समाज या परिस्थिति के अनुसार ही हर बार मानव-जीवन की नित नयी आलोचना होती है, और जब यह आलोचना साधारण गम्भीरता से भी अधिक गम्भीर हो जाती है, जब वह देश-काल के उस संकुचित वायु-मंडल से भी ऊपर मँडराने लगती है, तभी उस देश में विश्व-कवि अवतरित होते हैं, जो किसी विशिष्ट देश, काल तथा समाज की वस्तु न रह कर सारे विश्व की एक अमूल्य निधि बन जाते हैं।

परन्तु हजारों वर्षों में कहीं एक दो बार ही ये विश्वकवि अवतरित होते हैं। अतएव प्रायः साहित्यिक इतिहास ऐसे ही कवियों की आलोचनाओं से भरपूर रहता है जिनकी कृतियों पर देश-काल की अमिट छाप लगी हुई है। देश-काल के विचारों का यह प्रभाव उस देश के कवियों में अधिक स्पष्ट रूप से देख पड़ता है जहाँ मानवीय विचार-धारा में उथल-पुथल मच रही है और जहाँ राष्ट्रीय मस्तिष्क नवीन भावनाओं को स्थिर करके उनको स्थायी स्वरूप देने में ही अपनी सारी बुद्धि लगा रहा हो। विचारों, आदर्शों तथा भावनाओं से सम्बन्ध रखने वाला यह मानसिक संग्राम उस देश की कविता में, उस देश के कवियों की विचार-धारा में, स्पष्ट रूप से चित्रित रहता है इस संग्राम का प्रभाव मानव मस्तिष्क पर पड़े बिना नहीं रहता। इसी प्रकार मानव विचार-धारा के बहने का मार्ग निर्दिष्ट हो जाता है और एक बार निश्चित मार्ग को प्राप्त कर कवियों की

विचार-धारा उसी ओर अग्रसर होती है। राष्ट्रीय विचारों में, सांस्कृतिक दृष्टिकोण में, जब-जब क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, तब-तब उनके फलस्वरूप मानव विचार-धारा के पथ में भी बहुत कुछ परिवर्तन हुए और उन्हीं नवीन पथों पर नवीन विचार-धारा की तरङ्गें टकराने लगी हैं।

भारत, आधुनिक भारत, २०वीं शताब्दी का भारत, उपर्युक्त नियम का अपवाद नहीं है। आधुनिक परिवर्तन-काल में भारत में अपनी दशा के प्रति जो भीषण असन्तोष फैला है, जो भावना उसे राजनीतिक पुनरुत्थान की ओर अग्रसर होने को प्रेरित करती है, उसी असन्तोष की भावना की तरङ्गें भारतीय काव्य-साहित्य के महान आदर्शों के उन्नत तटों से टकरा-टकरा कर उन पर भी अपने चिन्ह छोड़ जाने का प्रयत्न कर रही हैं; और आधुनिक भारत का—२०वीं शताब्दी के इस परिवर्तन-काल का—कवि-हृदय देश-काल से ऊपर नहीं उठ सका है। विश्व-कवि को उत्पन्न करने के लिये व्यक्तिगत महान मानसिक प्रतिभा की ही आवश्यकता नहीं होती किन्तु विश्व-कवित्व के लिये एक विशिष्ट वातावरण की भी आवश्यकता होती है; और जब-जब किसी देश के राष्ट्रिय विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं, तब उस देश की विचार-धारा दो विभिन्न खण्डों में होकर बहती है; जहाँ एक ओर विध्वंसकारी भयङ्कर प्रवाह बहता है तो उसके साथ ही दूसरी ओर एकीकरण-काल समुपस्थित होता है, जो पूर्ण प्रयत्न से इन नवीन परिवर्तनों का विरोध करता है।

इस प्रकार उस देश की विचार-धारा में कुछ काल के लिए आलोचनात्मक तत्व का बहुत ही अभाव पाया जाता है। उस देश के विचारों में औदार्य्य का अंश नाम-मात्र को होता है। लक्ष्य को सम्पादन करने में वह राष्ट्र महान उदार भावनाओं को भुला देता है और दूसरी समस्त बातों का ध्यान करना तथा उन पर विचार करना छोड़ कर संकुचित क्षेत्र की ओर ही बढ़ता है। इस प्रकार वहाँ विश्व-कवित्व के लिये अत्यावश्यक वायु-मण्डल समुपस्थित नहीं होने पाता। प्रकृति की सहायता से विहीन मनुष्य एक असाधारण पंगु मात्र रह जाता है और पर-कटे पक्षी के समान उसका कवित्व फड़फड़ा कर ही रह जाता है, ऊँचाई तक उड़ सकने की क्षमता उसमें नहीं पायी जाती।

आधुनिक भारत में असन्तोष की जो आग फैली है, वह विचार-लोक को भी, कविता के महान सुकोमल संसार को भी दग्ध किये बिना नहीं रही। इसी असन्तोष की भावना के फल-स्वरूप आज हिन्दी-काव्य-संसार में भावों की धारा तीन विशिष्ट पथों पर अग्रसर हो रही है।

१—पहिली प्रवृत्ति तो इस सुकोमल लोक में निशंक विचरने वाले कवियों के अनुरूप ही है। इस असन्तोष की धधकती हुई ज्वाला से घबरा कर ये कवि दूसरे ही लोक को भाग जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं। अपने भावों की सुकोमलता तथा कवित्व-कला का वह सुन्दर स्वरूप उन्हें बहुत ही आकर्षक जान पड़ता है, अतएव उसे इस धधकती हुई अग्नि से बचाने के

लिए ये कवि या तो किसी कल्पना लोक के स्वर्ग की ओर दौड़ते हैं या उस विगत भूत में होने वाली सुखद घटनाओं का प्रदर्शन करने तथा उनके विचारानुसार उस भूतकालीन सुखप्रद काल में पुनः पहुँचने के लिए वीणापाणि का आह्वान करते हैं। कवियों में पाई जाने वाली यह प्रवृत्ति कोई नई बात नहीं है। कल्पना ही इस प्रवृत्ति का आधार है। अतएव जब-जब किसी भी देश में राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्रान्ति अवतरित होती है, तब-तब उस देश के काव्य में इस कल्पना-प्रधान भावना का उद्भव होता है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय जब इङ्गलैंड भावनाओं की क्रान्ति से आक्रान्त हुआ, तब उस रोमेन्टिक काल (Romantic Period) के कवियों में कीट्स के समान कवि भी तत्कालीन क्रान्तिकारी विचार-धारा से घबरा कर मध्य-युगीन भूतकालीन जीवन के सुखद स्वप्न देखने को दौड़ पड़े थे। हिन्दी में यह कल्पना-प्रधान प्रवृत्ति दो विभिन्न धाराओं में बहती है। प्रथम तो कल्पना लोक में विचरने वाले प्रकृति तथा संसार के कण-कण में अपनी अनुभूति का अनुभव करने वाले रहस्यवादी भावुक कवि हैं; तथा दूसरे वे कवि हैं जो बीसवीं शताब्दी के व्यक्ति होकर भी वही वृन्दावन-निवासी विरही गोपियों का करुण-क्रन्दन, उनके उपालम्भ आदि की कथा सुनते हैं और भगवान कृष्ण तथा राधिका की रासलीला, उनकी मानलीला, उनका प्रेम-प्रणय आदि देखते हैं, या मध्यकालीन रीति-युग में स्वच्छन्द विचरने वाली नायिकाओं का ध्यान कर उनकी लीला का वर्णन

करके एक अनोखे सुख की अनुभूति करते हैं। भक्ति मार्ग की ओर बढ़ने वाले कवि भी इसी कल्पना-प्रधान प्रवृत्ति की द्वितीय धारा के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं। आधुनिक काल में ब्रजभाषा में रचना करनेवाले कवि भी प्रायः इसी धारा के अंग मात्र होते हैं।

२—ऐसे असाधारण असन्तोष के समय में पाई जाने वाली दूसरी प्रवृत्ति "विद्रोह-प्रधान-प्रवृत्ति" होती है। आधुनिक जीवन से असन्तुष्ट होकर उसका विरोध करना, उसको विनष्ट कर देने की भावना रखना, उस भावना को अपने काव्य में स्थान देना तथा उसका प्रचार करना ही इस प्रवृत्ति वाले कवियों की प्रधान विशेषता होती है। इन कवियों की विचार-धारा में क्रियात्मक प्रवृत्ति का प्रायः अभाव होता है; इन कवियों में राजनीतिक भावनाओं का ही प्राधान्य होता है। उनका जीवन, उनका कल्पना-लोक राजनीति से परिपूर्ण होता है और वे इस विरोध के रंग में इतने रँग जाते हैं, यह भाव उनकी रग-रग में इतना भिद जाता है कि उनके प्रत्येक शब्द से विरोध की भावना टपकी पड़ती है। अपनी हार्दिक भावना को वे अपनी कविता में उँडेल देते हैं; तभी उनकी कविता निरी कविता न रह कर क्रान्ति की चिनगारी होती है और अपने युग में उनका ही एक-मात्र शासन होता है। अँगरेजी भाषा के रोमेण्टिक युग में भी बायरन और शेली ऐसी ही प्रवृत्ति के प्रधान जाज्वल्यमान उदाहरण थे। सब कुछ विनष्ट कर देने और तत्कालीन जीवन को उखाड़ फेंकना ही इन कवियों

की हृत्तन्त्री से निकलने वाली तान का प्रधान स्वर था। आधुनिक हिन्दी में इस प्रकार के कवि कम हैं।

३—परिवर्तन काल की तीसरी प्रवृत्ति निराशा प्रधान होती है, जिसका उद्भव अनेकानेक ऐतिहासिक तथा राष्ट्रीय कारणों से होता है; कवि के हृदय में असन्तोष की आग धधक उठती है। परन्तु वह कवि उस असन्तोष को कुछ स्वरूप देने में या उस असन्तोष के कारण को मिटा सकने में अपने को विवश देखकर, अपनी असमर्थता का अनुभव कर निराश हो जाता है। यह निराशा धीरे धीरे उग्र स्वरूप धारण करती है और कवि निराशवादी होकर देखता है कि यह असन्तोषाग्नि बुझाए नहीं बुझती, और अन्य किसी भी प्रकार के ईंधन को न पाकर अंत में उसके व्यक्तित्व को ही भस्म करने लगती है। यह निराशा प्रकट होकर भीषण स्वरूप धारण करती है। इसके भावों का प्रवाह महान तथा वेगवान होता है, और वह ऐसे सर्वनाशकारी प्रलयं-कर स्वरूप को धारण करके उमड़ पड़ता है कि समस्त बन्धनों को तोड़ कर उन्हें रौंदता हुआ, हुँकार करता हुआ, कला और सौन्दर्य रूपी तहों की किंचित् भी परवाह न करके उन्हें तोड़ता एवम् अपने जल में निमग्न करता हुआ निकल जाता है। असन्तोष की यह अग्नि मनुष्य के भग्न प्रेम या संसार की निस्सारता के रूप में उस कवि के भावों में प्रकट होती हैं। कल्पना लोक की सुकोमल भावनाओं से मुक्त रह कर भी ये कवि शीघ्र ही उस सुन्दर लोक के खण्डहर, उस उद्यान के अवशेष

झंखाड़ तथा उस सुन्दर सजीव मूर्ति के अधजले विकृत पिण्ड मात्र रह जाते हैं। भक्ति-मार्ग की ओर झुकने वाले कवियों में भी यही निराशा सर्व प्रथम देख पड़ती है, किन्तु जब यह निराशा प्रलयंकर स्वरूप न धारण कर एक सुखद सुन्दर पथ की ओर अग्रसर होती है, और उस सच्चिदानन्द भगवान के श्यामसुन्दर स्वरूप में निराशा के घनीभूत पुंज की अनुभूति करके सत्यं-शिवं-सुन्दरम् रूप की उपासना करते हैं, तब वहाँ विनाश की भयंकर हुँकार नहीं सुनाई देती परन्तु उसके विपरीत चिरस्थायी आनन्द की सुमधुर वंशी-ध्वनि सुन पड़ती है। भक्ति-मार्ग की ओर झुकने वाले कवियों के इस अन्तिम स्वरूप को देखकर, तथा उनके जीवन और भावों में कल्पना के अवतीर्ण होने से, उन्हें निराशा-प्रधान प्रवृत्ति के अन्तर्गत न रख कर कल्पना-प्रधान प्रवृत्ति में ही गिनना अधिक उपयुक्त होगा।

आधुनिक हिन्दी में निराशा-प्रधान प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है। आधुनिक नवयुवक कवि-समाज तो विशेष-रूपेण इस प्रवृत्ति में इतना रंजित हो गया है कि प्रायः यही निराशा-प्रधान भावना आधुनिक काल के काव्य की सर्व-प्रधान विशेषता तथा आधुनिक कल्पना-लोक की एक-मात्र प्रवृत्ति रह जाती है। यदि इस समय रहस्यवाद बिना बुलाए हिन्दी-काव्य-संसार में न आ घुसता तो हिन्दी-काव्य की इस सुन्दर सुरम्य वाटिका का कौन सा स्वरूप देखने को मिलता, उसकी कल्पना करके ही दिल दहल उठता है।

[फरवरी, १९३४]

वह प्रतीक्षा

सत, चित् और आनन्द, तीनों उसमें एक साथ पाए जाते हैं; "सत्यं शिवं सुन्दरं" के स्वरूप में ही ये तीनों गुण क्रमशः प्रस्फुटित होते हैं; और उनको प्राप्त करने के लिये कर्म, ज्ञान और उपासना ही एक-मात्र उपाय हैं। किन्तु जहाँ सत, सत्य तथा कर्म में जीवन की कठोरता स्पष्ट देख पड़ती है, चित, शिवम और ज्ञान में दुरूहता तथा सात्विक रूक्षता का अनुभव होता है, वहीं आनन्द, सुन्दरता का रूप धारण किये उपासना-मार्ग में बिखरा पड़ा मिलता है। इसी कारण जहाँ कर्म की कठोरता और ज्ञान की रूक्षता अनेकों को डरा देती है, तहाँ उपासना मार्ग का आनन्द, उस आनन्द का वह सौन्दर्य, और उस सौन्दर्य के वे प्रेमरूपी पाश अनेकों को अनजाने खींच लेते हैं और मनुष्य की उस अदृष्ट जगत्पिता से मुठभेड़ करवा देते हैं।

उस आनन्दमयी भावना का वह अदृष्ट किन्तु विमोहक सुदृढ़ आकर्षण ही प्रेम कहाता है, और इसी कारण जहाँ-जहाँ सौन्दर्य बिखरा पड़ा होता है, आनंद की तरंगें उठती हैं और उस अनंत परम आत्मा की प्रेममयी भावनाएँ उमड़ती हैं। प्रेम

का वह अदृष्ट पाश निरंतर उलझता जाता है, अधिकाधिक सुदृढ़ होता जाता है। और जब यह पाश दो आत्माओं में भी देख पड़ते हैं तब वह सांसारिक प्रेम कहाता है, किंतु वहाँ भी सौंदर्य, आनंद और प्रेम, तीनों उलझे मिलते हैं और एक ऐसी अनबूझ पहेली पैदा कर देते हैं जिसे कवि भवभूति भी केवल यही कह कर टाल सका कि

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः"।

पुनः जब-जब आनंद के वे अदृष्ट पाश प्रेम के स्वरूप में देख पड़ते हैं, तब-तब प्रेमपात्र में अनुभूत सौंदर्य फूट पड़ता है, और वह सौंदर्य प्रेम की उमड़ती हुई भावना के साथ ही दिन पर दिन निखरता जाता है, अधिकाधिक मोहक, आकर्षक होता है। और जब-जब आत्मा परम आत्मा की ओर आकर्षित-होती है, जब-जब मनुष्य उस आनंद-कंदन, सौंदर्य-सागर तथा चिरप्रेमी से मिलने को मचल बैठता है..........सौंदर्य और आनंद के वे बिखरे हुए छितरे कण, प्रेम के अदृष्टपाशों द्वारा सौंदर्य और आनंद के सागर की ओर खिंचते हैं, उससे एकी-भूत होने की उत्कंठा अधिकाधिक तीव्र होती जाती है,........ तब तो उस राह में सहायक होने वाली निर्जीव वस्तुएँ भी उस प्रेमी के लिए प्यारी हो जाती हैं। वे अपने प्रेमपात्र तक उसे पहुँचा देंगी,........प्रेमी हर्ष से पागल हो जाता, आनंद में भ्रमता हुआ, उनसे चिपट जाता है। प्रल्हाद ने उस तपतपाये हुए खम्भे को गले लगाया; ईसा लकड़ी के उस कठोर क्रास

पर ही स्वयं लटक गया, हर्षातिरेक से उसका बदन फूट पड़ा और रुधिर के आनंदाश्रु बहे; और वह दिव्य प्रेमी मंसूर हँसते-हँसते उस तीखी दर्दनाक शूली पर चढ़ बैठा।

किंतु निराकार के साथ ही साकार की भी भावना होती है, और अनेकों आत्माएँ एक साकार-स्वरूप को गले लगाने के लिए या उसकी सेवा कर उसी के प्रेम में घुल जाने में ही आनंदातिरेक का अनुभव करती हैं। और तब.......प्रेम का वह अदृष्ट आकर्षण, आत्मा की वह महान इच्छा और उसी की वह तीव्र प्रेरणा.......आनंद के वे बिखरे हुए परमाणु अनजाने एक ही स्थान में एकत्रित होने लगते हैं, सौंदर्य घनीभूत होता है; और तब वह दूसरी आत्मा आनंद के इस अतिरेक का अनुभव कर सौंदर्य के स्वरूप को धारण कर अधिकाधिक उन्नत होती है, और धीरे-धीरे उस आत्मा-रूपी चंद्र की कलाएँ विकसित होती हैं और उस बढ़ते हुए चंद्रबिम्ब में परम-आत्मा प्रतिबिम्बित होने लगती है; अधिकाधिक कलाओं को प्राप्त कर, धीरे-धीरे उस परम आत्मा की महती ज्योति फैलने लगती है; और वह उच्चतम आत्मा प्रतिबिम्बित महत्ता के आधार पर तथा अपनी विकसित उच्चता एवं पवित्रता की नींव पर अवतार के स्वरूप में देख पड़ती है। तब आनंद की चाँदनी बिखरती है, परम-आत्मा का महान सौंदर्य संसार को अधिक सुन्दर बना देता;.......और प्रेम के प्यासे जो उस चाँदनी के विकास की ही बाट देखते रहते हैं, उसको पाकर फूले नहीं समाते, आनंद

से विह्वल हो जाते हैं, इस चाँदनी को देख कर उन प्रेमियों के आनंदाश्रु ही बहते हैं। भक्त सर्वदा अपने भगवान के इस विकास और प्रस्फुटन की ही प्रतीक्षा करता है और जहाँ तक वह सौंदर्य एवं आनंद एक स्थान पर घनीभूत नहीं होते, सर्वत्र उसी को ढूँढ़ता है और अनजाने आनंद के उस सुन्दर स्वरूप की ओर खिंच जाता है।

× × ×

और उसने उसकी प्रतीक्षा में अपना सारा जीवन बिता दिया।

कौतुहल-पूर्ण बाल्य-काल में उसने रात और दिन देखे, सरदी और गर्मी का अनुभव किया, वन में पशुओं का निनाद और पक्षियों का कलरव सुना, फूलों को खिलते देखा, उनकी सुगन्ध आकर्षक प्रतीत हुई, मीठे-मीठे फलों का स्वाद चखा और तभी अनजाने ही उसकी ओर खिंच गई, अदृष्ट पाशों में बँध गई। वह कौन है? उसका क्या स्वरूप है? कहाँ है? कब मिलेगा? कब तक उसकी प्रतीक्षा करना पड़ेगी? इन सब बातों को न जानते हुए भी उसने—

नभ देखि सो स्यामल मानि लियो,
छवि भानु-प्रभाहिं प्रमान लियो।
निज बैन बिनीत की पाय प्रतिध्वनि
राखत है हित जानि लियो।

अति चाह-उछाहन हौंस बढ़ी,
मिलिवे को हिये हठ ठानि लियो।
गुनि जीवन-सार सो बुद्धि के बास
बिसास के बासन छानि लियो।

और जब अल्हड़पन भरा कौमार्य आया, यौवन का प्रस्फुटन होने लगा, उसी की बात करने की इच्छा बढ़ी, उससे मिलने की आकांक्षा उठी। यौवन की मद भरी बाढ़ उसी की भावना के पदतल पै टकरा कर रह गई, और मस्तानी अदा उसी के रंग में रँग कर अपनी लाली खो बैठी। किंतु वह प्रेम की बाढ़ उमड़-उमड़ कर रह जाती थी; किस ओर को बढ़े? मुनियों के उस आश्रम में, तपस्वियों की उस भूमि में किसे समय था कि उस भीलनी की उत्सुकता पूर्ण करता, उसके संग बैठ कर उसी की दो बात करता।

•अरे! उसने तपस्या भी तो नहीं की, न व्रत-नेम का ही अब तक पालन किया। वह काली कलूटी अपने यौवन का भार लिए दौड़ती फिरती है, भगवाँ भी तो उसने ग्रहण नहीं किया। हाँ! परन्तु यह सब वह करती भी क्यों?

पियारी परी प्रेम की पीर में सो,
पियरे रँग पाट रँगावति क्यों?
विरहागि बरी वसुयाम हिये,
'बचनेस' तौ धूनी जगावति क्यों?

निरबासना इन्द्री भई, मन कौ
ब्रत-नेमन मैं उमँगावति क्यों ?
दिन रात रमी प्रिय रामहि मैं,
करि जोग समाधि लगावति क्यों ?

यही नहीं, उसको अपना मन लगाने के लिए, अपना समय बिताने के लिए एक सहारा तो था। उसका ध्यान, उसके प्रति अपना भाव ही उस बेचारी के लिए सब कुछ था। पुनः वह उसके हृदय में भी तो बात करता था, तब ही तो—

इक मूरति मानस मैं प्रिय की
नित साँसन में दुलरायो करै।
कबहूँ धरि हाथ सुवायो करै
कबहूँ गुन गाय जगायो करै।
अन्हवायो करै अँसुआन, हिये
की हिलोर-हिंडोर झुलायो करै।
निज बेदना बीर के संग कबौं
बिनती करि ताहि मनायो करै।

परन्तु इससे उन ज्ञानी तपस्वियों का समाधान क्योंकर होता? यद्यपि मातंग ऋषि ने उसे उपदेश देकर अपनी शिष्या बनाया, उन ज्ञानी तथा उच्चवर्णजों के लिये तो फिर भी वह वही अछूत ही थी। एक मुनि ने कहा भी—

ऊत, अछूत, कुजाति, बिजाति!
दुजाति बनी का पखंड गढ़ाये।

देखति ना कोउ आवत जात

त्रिमोह की खोलन नैन मढ़ाये।

प्राकृत मंदपनो अपनो नहिं

सोचति, स्वर्ग लौं चित्त बढ़ाये।

धूरि तौ धूरि, न चन्दन होय

उतंग मतंग के मूँड़ चढ़ाये।

× × ×

युग पर युग बीत गये और मदमस्त यौवन भी प्रेम-प्रतीक्षा में बीता; प्रौढ़त्व भी ऐंठता हुआ निकल गया,········परंतु उसकी रग-रग में, उसके अंग-अंग में उसकी प्रेम भावना अधिकाधिक बढ़ती जाती थी। उस निराकार की निर्गुण विमलता बाह्यान्तरिक स्वरूप में अधिकाधिक व्यक्त होने लगी। किंतु उसके दर्शन की वह प्यासी·····प्रेमदुग्ध में उफान आया, परिधि को छोड़कर उमड़ पड़ा और उस उफान के श्वेत फेन·········।

बरसैं बहु बस की बीत गईं,

उर की बढ़ि मुच्छई सीस छई।

कृसता भव-वासना की बढ़ि कै

मन तें तन आँगम पै उम्हई।

अभिलाष बढ़ी मिलिबे की इती

समना-हियते हरि-हीय भई।

तिन त्यागि अदेहपनो अपनो

अवधेश के गेह में देह लई।

और अपनी उससे मिलने को, उसे जलकर एकबारगी भस्म हो जाने से बचाने के लिये उसे निर्गुण से सगुण होना पड़ा।........फिर भी अभी प्रतीक्षा का अंत नहीं हो पाया, पृथ्वी-तल पर आकर भी वह अभी राजप्रासाद में सुख-नींद सोता था, ऐश्वर्य-पूर्ण जीवन बिताता था, या अपनी माया को ढूँढ़ता था।........किंतु यह कब तक?........जीवन भर की प्रतीक्षा, स्नेह की वह अखण्ड साधना, अपने व्यक्तित्व का वह तर्पण........कितना महान आकर्षण होता है इनमें—

प्रेम को चुम्बक ऐसो खरो
गुन मैं ध्रुव-चुम्बक हू कौ लजायो।
लौह की ठौर त्रिलोक को पारस
उत्तर तें खिंचि दच्छिन आयो।

× × ×

और वह भी अकेला न आया, अपनी माया को भी साथ लाया। तब यदि पतिंगा खिंचा चला आवे अपने रंग-बिरंगे पंखों को लिए उस दहकती हुई बत्ती पर भस्म होने को, और यदि लौह की वह जड़ सुई भी अपना ताज वाला सिर धुन-धुन कर अनजाने ध्रुव की उस अमिट अचल द्युति की ओर इङ्गित करदे, तो कौन सी आश्चर्य की बात होती है!

× × ×

किंतु उसे तो उसके गुण भी छोड़ गए और वह बेचारी अधिकाधिक चंचल हो गई। उसकी वह एकाकी प्रतीक्षा और

उस कठोर समय में भी निराधार........। किंतु कुछ ही काल के बाद—

सरसी उद्बेग भरी इत साँस
बही उत बेगवती ह्वै बयार।
इत संचित-कर्म-निपात भयो
उतपात पुरातन को पतझार।
उमँगे रस-राग-भरे सतभाव
भयो उत पल्लव-पुंज-उभार।
हरि-आवन की चरचा इत त्यों
मधु-आगम की कलकंठ-पुकार।

वह आ रहा है ! आ रहा है !! आ रहा है !!! और बरसों की, नहीं, नहीं, जीवन भर की प्रतीक्षा का अंत होगा। परंतु उसका आतिथ्य, उसके लिए भोजन, उसके लिए निवास........

अलोवकिबो है हरि के मग को
चलिबो बन में हरि-खोजन है।
गृह-काज सदा हरि आसन हेत
सरोजन ही कौ सँयोजन है।
हरि-भोग के जोग सँजोवन कौ
फल-चाखिबो ही इक भोजन है।
तन है हरि-पाँयन पारिबे कौ
सबरी कौ न और परोजन है।

और उसके लिए उत्सुकता इतनी बढ़ी, विकलता इस हद तक पहुँच गई कि उसे सर्वत्र उसी का भ्रम होने लगा। इसी कारण—

उत दौरी चली, दिसि आन चितै
हँसि बोली अहा रघुनन्दन आयो।
वह देखौ, जटान की छावनि में
मुख को छवि-भास चहुँ दिसि छायो।
कर इङ्गित मोहि बुलाय रह्यो
कछु अस्फुट-सो मृदु बैन सुनायो।
ढिग जाय, सगुंज मलिंदन मैं
थल-कंज तहाँ दल लोलित पायो।

और सारे दिन भर बाट जोहने और राम-राम पुकारने के बाद—

कहि मौन भई, दृग मंद परे
सोइ मंदता भानु-मयूखन दौरी।
रज धूसर अंग की धूमिलता
करी धूमिल कान्ति दिसान की धौरी।
भइ धीम बयारि धिमातहि साँस
अचेतना ने जग-चेतन भौरी।
नभ स्यामलता छई, लीन भई
छवि स्यामली में जब राम की बौरी।

एक दिन वह क्षण, जिसकी उसने बरसों से प्रतीक्षा की थी, आ ही पहुँचा। उस दिन प्रभात के आशापूर्ण उस सुनहले क्षण में—

गृह झारी बुहारी कियो सुथरो
सरसीरुह की सुचि सेज सजाई।
मग जोहि रही खरी द्वार, छनै छन
आवत-से हरि देत दिखाई।

तब तो वह इकबारगी चित्रलिखित सी रह गई। सुख को उस श्यामल रूप में घनी भूत सहसा आते देख कर वह घबरा सी गई—

निछावरि ती जिनको सुनि नाम औ
बावरि ती जिनको धरि ध्यान।
गयो जिन्हे हेरत हीय हिराय
सु अपुहि आय मिले महिमान
बिलोकत पात सो गात कँप्यो
प्रभु-पाँय परी बिसरयो निज भान।
कहाँ जल, झारी, अँगोछे तहाँ
पग आँसुन धोये औ पोंछे जटान।

और उसके वे—

सबरी की बिलोकि बिदेह दसा
करुनानिधि को भरि आयो हियो।

पुलक्यो तन अंग असक्त भये,
गर नेह-उमंगन रोधि लियो।
मुख मूक भो, साँस असीस दई
औ जटानहि सीस पै हाथ दियो।
बरूनीन बनाय कुसा, द्रव-नैनन
आँसुन सों अभिषेक कियो।

× × ×

और जब अपने उनका अतिथि-सत्कार हुआ, और जब उस भीलनी ने अपने चखे हुए मीठे बेर उन्हें खिलाये तब,······ स्वीकार करता हूँ कि—

नहिं सक्ति इतीहु कहौं महिमा
सबरी के चखे उन बेरन की।

यह काम तो शबरी का कवि ही कर सकता, और विशेषतया जब उसने पूरी सहायता भी तो एकत्रित कर ली है। वह शबरी के उन्हीं को तो पुकार कर कहता है—

आवौ सनेही सदा के सखा
फिरि ते वह तापस बेस बनावौ।
संग लै मोहिं चलौ, अपनी
अनुरागिनि वा सबरी सो मिलावौ।
जानिबो चाहौं, सु पाहुनी कैसी
लुभावनी, जामैं न जूठ बचावौ।

रीझि गये जिन बेरन पै
उनको रस मोहुकों नेकु चखावौ।

और अब जब कवि अपने उस श्यामसखा को लेकर उन मीठे परन्तु जूठे बेरों की मिठास चखने का प्रयास कर रहा है, वह चाहता है कि अपने मित्रों को भी साथ ले चले उस बन में, उस पुराने गए बीते युग में तथा उस भीलनी के घर। मुझे तो कवि ने न्योता दिया है साथ चलने का, और औरों को साथ लाने के लिए भी आग्रह किया है।......और आज फिर शवरी अपने उन्हीं का स्वागत करने की प्रतीक्षा कर रही है, पर इस बार वे अकेले न जावेंगे, उसका वह कवि भी जावेगा और उनके साथ होंगे उन्हीं के दूसरे संगी साथी।......परन्तु कवि हमारी बाट देख रहा है......क्या उसे अब अधिक देर तक हमारी प्रतीक्षा करना होगी।......नहीं अब उसको एक बार फिर, अपने उससे मिलने के लिए प्रतीक्षा करवाना बड़ी निष्ठुरता होगी। और आज तो उसके वे फिर एक बार फिर वही श्यामल स्वरूप धारण किए परन्तु अँधेरी रात के उस घनघोर अँधेरे में कवि के श्यामसखा, मथुरा के उस नटवर का चोला पहने, नटवर बने चुपके से चले आ रहे हैं। अब देरी अधिक हो गई है चलें, वह श्यामसखा आवे उससे पहले ही कवि के पास पहुँच जावें कि श्यामसखा के आगमन के साथ ही शवरी तक पहुँचने के लिए चल पड़ें।

[सितम्बर, १९३६,

जब बादशाह खोगया था ?

(कहानी)

"क्या कहती है ? दिल्ली में तेल नहीं मिलता ? हिन्दोस्तान के शाहंशाह के तख़्तनशीन होने की .खुशी में क्या अब दिल्ली में चिराग़ भी न जलेंगे ?"

"हुज़ूर ! कल तक तो रुपए का आध सेर की दर से तेल मिलता भी था, लेकिन आज तो सारे व्यापारी यही कहते हैं कि सोने की मोहर देने पर भी आध सेर तेल नहीं मिलेगा। दिल्ली में अब......"

"तेल नहीं रहा। क्यों ? तेल न रहा, तो न सही; आज दिल्ली में घी के दिए जलाए जायँगे।"

दासी सिर झुकाए खड़ी रही। बेगम ने कहा—"तू खड़ी-खड़ी क्या ताक रही है, ढिंढोरा पिटवा दे कि आज घी के दिए जलाए जायँगे। कह देना कि लालकुँवरि का हुक्म है। बस, इतना ही काफ़ी होगा।"

बाँदी चल पड़ी, और लालकुँवरि ने दिल्ली के लाल क़िले के ख़ास महल में एक मुलायम सेज पर अँगड़ाई लेकर सफ़ेद

संगमरमर की खुली खिड़की से देख पड़नेवाली यमुना की काली धार पर नज़र डाली।

× × ×

दिल्ली एक बार फिर बस चुकी थी। भारत का सम्राट् प्रथम बार दिल्ली में सिंहासनारूढ़ होने आया था। शाहजहाँबाद ने पहली बार मुगलों के ऐश्वर्य, उनकी विलासिता तथा उनके मस्तानेपन की पूरी झलक देखी थी। औरंगजेब का पौत्र, बहादुरशाह शाह-इ-बेख़बर का बेटा सम्राट् जहाँदारशाह अपने भाइयों पर विजय प्राप्त कर भारत का एकछत्र शासक बना था, परन्तु उस सम्राट् पर भी दूसरे का शासन था। दिल्ली के उस लाल क़िले में स्थित नवोढ़ा लालकुँवरि दिल्ली के उस रंग-मंच पर बैठी सम्राट् जहाँदारशाह पर शासन करती थी। कलावंत की लड़की होते हुए भी उसने भारत-सम्राट् को अपने वश में कर लिया था। उस लाल क़िले की आत्मा लालकुँवरि में ही घनीभूत हो गयी थी।

दिल्ली के मस्ती के दिन थे, और लाल क़िले में राग-रंग का दौरदौरा था। सोने की वह छत तथा रत्नों से जड़ी हुई दीवारें, उनको आलोकित करने वाले हज़ारों झाड़-फानूस और उन पर सुरा और संगीत का प्रभाव...।

× × ×

"मलका कहाँ है?"

"जहाँपनाह! ऊपर अटारी पर हैं।"

सुबह का समय था, गर्मी के दिन थे, अभी धूप चढ़ी न थी, ठंडी हवा बह रही थी।

बादशाह ने ऊपर जाकर देखा, खिड़की के पास बैठी लाल-कुँवरि ने शीराजी का ग्लास ढाल कर मुँह को लगाया। वह सामने बादशाह को देख कर उठ खड़ी हुई।

"आज अनमनी-सी क्यों हो रही हो लाल?,,

"योंही कुछ दिल में बेचैनी-सी मालूम होती है।"

"तो दिल बहलाने का कुछ इन्तजाम किया जाय?"

"इसीलिये तो इस खिड़की के पास बैठी जमुना को देख रही थी। अरे बड़ी गर्मी है! कोई है? शरबत का एक ग्लास। क्या जहाँपनाह को प्यास नहीं लग रही है?"

"हाँ, शरबत तो ठीक है, लेकिन जब तुम्हारी तबीयत अच्छी नहीं है, तो कोई इंतजाम क्यों नहीं किया। हकीम साहब को बुलवा लिया जाय?"

"नहीं, हकीम साहब कुछ न कर सकेंगे। मैं बीमार थोड़े ही हूँ, जो उनकी दवा लूँ। आज कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है।"

"तो आज दोपहर के बाद कहीं घूमने चलेंगे, जरा गर्मी कम हो जाने दो। अगर दोपहर में कुछ बूँदाबूँदी हो गई, तो अधिक अच्छा होगा।"

"अच्छा। पर जहाँपनाह! देखिए, वह क्या कोई नाव आ रही है?"

"हाँ, नाव ही तो है। क्यों, क्या तुम नाव पर दरिया की सैर किया चाहती हो ?"

"नहीं। लेकिन आज तक मैंने यात्रियों से भरी नाव को कभी डूबते नहीं देखा।"

"वाह ! खूब कही। यह भी कोई देखने की बात है ? यह कोई तमाशा थोड़े ही है !"

"तो क्या आप मेरी इतनी-सी भी इच्छा पूरी नहीं कर सकते ?"

"लालकुँवरि ! तुम भी कैसी छोटी-छोटी-सी बातों में ज़िद करने लग जाती हो। मैंने तो ऐसे ही कहा था। अगर देखा चाहो, तो देख लो, अभी कहे देता हूँ। कोई बाँदी है ?"

"जी हुज़ूर ?" बाँदी ने हाज़िर होकर अर्ज़ की।

"देखो, न्यामतखाँ को जल्द बुला लाओ।"

और थोड़ी देर बाद—जब न्यामतखाँ हाज़िर हुए—

"जहाँपनाह ! क्या हुक्म होता है ?"

"देखो, सामने से जो यह नाव आ रही है, उसे डुबाने का हुक्म दे दो। मलका यात्रियों से भरी नाव को डूबते देखना चाहती है। जाओ, जाकर कह दो कि अभी इस हुक्म की तामील की जाय।"

"परंतु हुज़ूर !" न्यामतखाँ बोले—"अभी तक मुझे मुलतान की सूबेदारी का पट्टा नहीं मिला। नवाब जुल्फिकार।"

"न्यामतखाँ ?" बीच में ही बादशाह बोल उठे—"अभी नाव के बारे में इंतज़ाम करो। मुलतान की सूबेदारी की बात बाद में देखी जायगी।"

"नहीं हुज़ूर !" न्यामतखाँ ने जवाब दिया—"यह तो अभी तय हो जाना चाहिये, हुज़ूर से फिर कब अर्ज़ कर सकूँगा। मेरे तो दिन यों ही गुज़र रहे हैं। हुज़ूर का हुक्म होगया, लेकिन ये काम वाले सुनते किसकी हैं। अभी तक नवाब जुल्फिकार......"

"उस जुल्फिकारखाँ की इतनी हिम्मत !" बीच में ही लाल कुँवरि ने ज़रा तैश में आकर कहा—

"हिंदोस्तान के बादशाह के हुक्म की इतनी बेक़दरी ! जहाँपनाह ! खूब हुकूमत की। मेरे भाई को छोटी-सी सूबेदारी आप न दे सके !"

"मलका, इतना गुस्सा न करो।" बादशाह कुछ सकपका कर बोले—"जुल्फिकार से पूछूँगा कि देरी क्यों हो रही है।"

"देरी क्या हो रही है हुज़ूर ! जहाँपनाह ! वह रिश्वत माँगते हैं। वह कहते हैं 'कोई भी सनद तब तक नहीं दी जा सकती, जब तक उसके लिये फ़ीस न दी जाय।' मुझसे वह एक हज़ार सितारें देने को कह रहे हैं। मैंने किसी तरह दो सौ सितारें दे दी हैं, मगर वह तो पूरी एक हज़ार देने के लिये ज़िद कर रहे हैं !'

"अच्छे निकले दिल्ली के वज़ीर और उनके लड़के ! सब रिश्वतखोर !!" लालकुँवरि ने कुछ व्यंग के साथ कहा।

"खैर। न्यामत, तुम्हें सूबेदारी मिल जायगी, और कल ही तुम्हें सनद दे दी जायगी। अब जाकर तुम नाव के डुबाने का इंतज़ाम करो। वह नाव तो बातों बातों में ही इस किनारे आ पहुँची।"

"जहाँपनाह ! जब मैं मुलतान का सूबेदार हो गया" न्यामत खुश होता हुआ बोला "तब एक और नाव के डुबाने का सरंजाम करने में क्या देर लगती है। अभी भरी नाव डुबो दी जायगी। कितने ही मुए हैं, जिनके जीने से कोई फायदा नहीं, उन्हें बिठा बिठा कर एक नाव भिजवाता हूँ। परंतु मेरी सनद !"

न्यामत जल्दी से खुशी खुशी रवाना होगया।

× × ×

दोपहर के बाद अँगड़ाई लेते हुए लालकुँवरि ने बादशाह से कहा—"यह लो, दोपहर भी होगई। वक्त भी अच्छा है; क्या कहीं बाहर न चलोगे।"

"क्यों न चलेंगे ? परंतु कहाँ चलना है ?"

"एक जगह चलना है, बहुत ज़रूरी बात है।"

"आखिर लाल ! बताओगी भी कि योंहि मैं बैठा पहेलियाँ सुलझाया करूँगा।"

"तुम्हें क्या करना है, तुम्हारे कोई ख़ास फायदे की बात नहीं है; उससे तो केवल मेरा ही लाभ है। खैर, अब उसे जाने दो। अच्छा, शेख नासीरूद्दीन अवधी के तालाब पर आज नहाने चलेंगे।"

"वाह लाल! वहाँ नहाने की क्या खूब सूझी! क्या यहाँ का हम्माम अच्छा नहीं?"

"नहीं उसमें एक ख़ास बात है। शेख जी ने उस तालाब में नहाने वालों के लिए ख़ास बात बताई है।"

"क्या बात बताई है? अब कौन-सी तुम्हारी इच्छा पूरी न हुई लाल, जो तुम अब भी उसकी चाह लगाए हो!"

"क्यों, लाल को क्या लाल की चाह नहीं रही, जो तुम ऐसी बात करते हो?"

"लाल! भूला, परंतु इसके लिए क्या किया जाय? चलो, निज़ामउद्दीन की दरगाह पर चलें। वह अवश्य तुम्हें चाँद-सा बेटा देगें। क्यों न सीकरी ही चलें? इतनी-सी बात के लिये इतना मान!"

"अच्छा, कहो, जो मैं कहूँगी, वह मंजूर करोगे? तभी तुमसे बात करूँगी।"

"लाल! क्या तुम्हें मेरा भरोसा नहीं है?"

"बोलो, सब बातें मानोगे, तब आगे बात होगी।"

"हाँ, मंजूर है।"

"तो सुनो, शेखजी के उस तालाब में यदि हम-तुम दोनों नहावें, तब हमारे अरमान पूरे होंगे, ऐसा कहते हैं। चलो न आज ही।"

"इसमें क्या बात थी, जो इतनी हिचकिचाहट हुई तुम्हें ?"

"केवल इतनी ही बात कहना रह गई कि नंगे नहाना पड़ेगा।"

"यह बात है।"

बादशाह जरा रुक कर बोले—"अगर चलना हो, तो चलो न अभी।"

कुछ देर बाद सम्राट तथा लालकुँवरि स्नान के लिये पहुँचे। दिल्ली के सम्राट् और उनकी प्रेयसी के साथ एक-दो साथियों तथा बाँदियों के अतिरिक्त कोई न था।

× × ×

संध्या होगई थी। सारी दिल्ली असंख्य बत्तियों की रोशनी से जगमगा रही थी। आज घी के दिए जल रहे थे। चाँदनी-चौक आलोकित हो रहा था। दिल्ली निवासियों पर एक अनोखा पागलपन छा रहा था। बरसों बाद राग-रंग के दिन आए थे। उस मादक संध्या को, जब चाँदनी चौक में चहल पहल हो रही थी, सम्राट् तथा उनकी प्रेयसी लालकुँवरि एक रथ में बैठ कर आ पहुँचे। सारा दिन स्नान में तथा विभिन्न बाग़-बग़ीचों में विहार करने में बीता था। संगीत तथा चुलबुलाहट-भरे उस

मदमाते जीवन के बाद सम्राट् प्रेयसी को लिए बाज़ार में सौदा करने निकले।

रथ घूमता हुआ एक कुँजड़िन की दूकान पर ठहरा। कुँजड़िन का नाम ज़ोहरा था। इस कुँजड़िन की लालकुँवरि से मित्रता थी। शाही रथ को देख कर दौड़ी आई।

"कहो ज़ोहरा ! क्या-क्या सौदा बेच रही हो ?"

"हुज़ूर ! कौन सी चीज़ मेरे पास है, जो नज़र करूँ ?"

"ज़ोहरा ! नख़रे न करो। जहाँपनाह को तुम्हारी इन ककड़ियों का बड़ा शौक़ है। वे मतीरे भी तो बड़े स्वाद वाले हैं। हाँ, अनार भी तो होंगे। शरबत के लिये बेदाना अनार चाहिएं।"

"हुज़ूर ! सारी दूकान ही आपकी है जो पसन्द हो, रथ में रख दूँ।"

"नहीं, रथ में नहीं, किले ही भिजवा देना। अब हम चलेंगे। ज़ोहरा ! अगर अच्छे फल न भेजे, तो लाल तुमसे ख़फ़ा हो जायगी।"

"जहाँपनाह ! हुज़ूर की ही बाँदी हूँ। तो क्या कुछ भी जल-पान न करेंगे ?"

"नहीं ज़ोहरा ! हम जायँगे, बहुत सा काम है।"

"बाँदी आदाब करती है।"

रथ चल पड़ा, और बादशाह कुछ अचकचाकर बोले—

"लाल ! सौदा तो ले लिया, लेकिन उसके दाम न दिये। उसे कुछ मोहरें तो दे दो। ओ ! रथवान ! ज़रा ठहरना।"

"दिल्ली के सम्राट् सौदा लेने जाँय, और बदले में दे कुछ सोने के टुकड़े! क्या जहाँपनाह हमेशा बेचारी ज़ोहरा के यहाँ से फल नहीं मँगवाते?" तिरस्कार के साथ लालकुँवरि ने कहा—"अगर कुछ देना ही है, तो क्यों न एक जागीर दे दी जाय। बादशाह की कुँजड़िन को भी इज्ज़त चाहिए।"

रथ रुक गया। लालकुँवरि ने बाँदी से ज़ोहरा को बुलवाया। घबड़ाई हुई ज़ोहरा आई।

लालकुँवरि ने कहा—"ज़ोहरा ! बादशाह ने खुश होकर तुम्हें जागीर दी है, और मनसब भी दिया है। अब तुम पालकी में बैठकर क़िले आ सकोगी।"

"बाँदी दोनों हुज़ूर का शुक्रिया अदा करती है। मुझ ना-चीज़ पर इतनी मेहरबानी!"

रथ एक बार फिर चलने को हुआ। लालकुँवरि ने अपनी बाँदी से कहा—"तू यहीं उतर जा। क़िले चली जाना। हम घूम-घाम कर बाद में चले आवेंगे।" बाँदी उतर पड़ी। रथ रवाना होगया। बाँदी स्तंभित खड़ी ताकती रही।

× × ×

इस बार घूमता घामता रथ एक गली में पहुँचा। उस जग-मगाती हुई दिल्ली का यह कोना मनहूस सी सूरत बनाये अँधेरे में जीवन बिता रहा था। उस अँधेरे को और उस गली को

उबड़-खाबड़ देख कर लालकुवँरि को ताव आगया। रथवान को रथ रोकने की आवाज़ देकर बादशाह से बोली "हुज़ूर आली! देखिये, दिल्ली के ये मुए आज-जैसी खुशी के दिन भी मातम मना रहे हैं! कौन-सा कारूँ का खज़ाना लुटा जा रहा था, जो उनसे अपने घर के सामने दिए भी न जलाए गए!"

बादशाह चुपचाप सुनते रहे, बाद में धीरे से बोले—

"लाल! इस झंझट से मैं हैरान हो जाता हूँ। यह कौन-सी दिन रात की आफ़त—आज यह नहीं हुआ, कल वह करना बाक़ी रह गया। दिल्ली के तख़्त-ताऊस पर बैठ कर भी यह सब बेगार करनी पड़ती है। अगर दिए न जलाए, तो तुम्हीं क्यों न इसका प्रबंध करलो। तुम्हारी ही देख-रेख में तो ये सारे उत्सव मनाये जारहे हैं।"

लालकुँवरि को तैश आगया। फौरन रथ वाले को आवाज़ दी कि उस घर के मालिक को बुलावे। काँपता-काँपता एक बुड्ढा हाज़िर हुआ, जिसके पहनने को पूरे वस्त्र भी न थे! वह घबरा रहा था। रथ के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया।

"क्यों, तुम कैसे बदतमीज़ हो कि दिल्ली के बादशाह के सामने नंगे-बदन हाज़िर हुए हो?"

"हुज़ूर! हुज़ूर! कपड़े कहाँ से लाऊँ? बड़ी मुश्किल से गुज़र चल रहा है।"

"इतना दिमाग़ तुम्हारा कि लालकुँवरि से हुज्जत करो!" और रथवान की ओर मुड़कर दो जूते लगाने को कहा।

बूढ़ा पहले ही घबरा रहा था, दो जूते खाकर तिलमिला उठा। अब भागने की सोची, परंतु लालकुवँरि ने हुक्म दिया कि उसे पकड़ कर लाया जाय; जब हाज़िर किया गया, तो वह फिर तमक कर बोली—"बुड्ढ़ऊ! ये दिमाग़ तुम्हें कहाँ ले जायँगे ? पहले तो बादशाही हुक्म की अदूली की, और उस पर बुलावें तो सुने नहीं ?"

बूढ़ा रो पड़ा, पाँव पड़ने लगा, घिघिया कर बोला—"हम बेचारों की क्या हिम्मत कि हम सरकार के हुक्म को न मानें !"

"तब आज तुम्हारे घर पर अँधेरा क्यों है ? क्या तुम्हें मालूम नहीं कि आजकल बादशाह जहाँदारशाह की तख़्तनशीनी का जशन हो रहा है ?"

"हुज़ूर! हम बेचारों के पास तेल कहाँ, जो दिए जलावें।"

"तेल! तेल! जिसे देखो, वही कहता है कि तेल नहीं है, मगर मैंने यह हुक्म दिया था कि घी के दिए जलाए जायँ। क्यों बे! आज सारे शहर में डौंड़ी पिटवाई गई थी न; क्या कान फूट गये थे जो नहीं सुनी ?"

"हुज़ूर, घी कहाँ से लाऊँ ? यहाँ खाने को धान भी तो नहीं मिलता !"

बहुत बात हो चुकी थी। लालकुँवरि ने लात मार दी। बेचारा बूढ़ा गिर पड़ा। रथ फिर चल पड़ा।

"इसी शाहंशाही आफ़त के मारे ही तो मैं क़िले से भाग निकलता हूँ" बादशाह ने धीरे से कहा।

"ये सब कुत्ते बादशाह की नहीं सुनते, सो नहीं सही, अब मेरा भी हुक्म नहीं मानते !"

"रहने दो लाल ! ये सब बातें भुला दो। अब तो गुलबानू की दूकान आती होगी। कब तक यह सिर-फोड़ी करोगी, कुछ वक्त तो हंसी-खुशी में बितावें !"

लालकुँवरि चुपचाप सुनती रही।

❀ ❀ ❀

और, शीघ्र ही गुलबानू की दूकान के सामने शाही रथ रुक गया। दिल्ली की एक गली में, अजमेरी दरवाज़े के पास ही कोने में, गुलबानू की दूकान है। उस अँधेरी गली के कोने पर यहीं चिराग़ जल रहे थे, और उस अँधेरे को अधिक बढ़ा रहे थे। रात के दस बज चुके होंगे। गली में आने-जाने वालों की भीड़ कम हो चुकी थी। रथ को रुकता देख कर गुलबानू निकली, और पूछा—

"किसका रथ है ?"

"गुलबानू, अब तुम काहे को हमें याद करोगी ?" रथ से निकलती हुई लालकुँवरि बोली।

"लाल ! तुम यहाँ कैसे ?"

"घबराओ न गुल ! मेरे साथ दिल्ली के बादशाह भी तो आए हैं"; और फिर रथ की ओर देख कर लालकुँवरि बोली, "हुज़ूर ! आइए न, यहाँ तो सब अपने ही हैं, कोई ख़याल न कीजिएगा।"

"बादशाह सलामत और मुझ नाचीज़ की दूकान पर !" अचकचाकर गुलबानू बोली; "अब क्या करूँ ?"

"गुल ! तुम तो अब भी निरी उल्लू-की-उल्लू रही। बादशाह कौन-से हौआ हैं जो तुम इतना डर रही हो" धीरे से लाल ने कहा।

बादशाह रथ से उतर चुके थे, और जब लालकुँवरि के पास पहुँचे, तो गुल बोली—"बाँदी दिल्ली के बादशाह को आदाब करती है"।

"यहाँ भी यही सब कुछ लाल ! क्या इससे कहीं भी पीछा न छूटेगा ? जिससे घबराकर हम यहाँ आए, वह आफ़त तो यहाँ भी सामने मिली" जहाँदारशाह ने ज़रा खिन्न होकर कहा।

"नहीं हुज़ूर ! गुल से तो कहे बिना कैसे होता, परंतु यहां कोई भी बात न होगी। मैं सब इंतजाम किये देती हूँ"। गुलबानू को एक ओर ले जाकर लालकुँवरि ने कान में कुछ कहा, और तब तीनों उस दूकान में पहुँचे।

गुलबानू लालकुँवरि की बचपन की सखियों में से एक थी। अब वह दिल्ली में शराब की दूकान चलाती थी। यहाँ दूर-दूर तक के पियक्कड़ इकट्ठे होते थे और गुलबानू की दूकान दिल्ली के दक्षिणी हिस्से में एक विशेष स्थान रखती थी।

नीची छत और वह भी सीधी-सादी जहाँ-तहाँ धुएँ से काली हो गयी थी। बादशाह ने दरवाज़े में घुसकर इधर-उधर

नजर डाली। एकाध पियक्कड़ को पड़े देख कर उन्होंने लाल की ओर देखा। गुलबानू बोली—"हुजूर, ऊपर चला जाय। बादशाहों से क्या अर्ज करूँ, परन्तु ऊपर के कमरे में सब प्रबन्ध हो जायगा।" सकड़ी सीढ़ियों से होकर बादशाह ऊपर के दालान में पहुँचे। वहां एक लम्बे-से दालान में सफ़ेद फ़र्श बिछा हुआ था, एक कोने में मसनद लगी हुई थी, खस की तेज़ महक भरी हुई थी। मसनद के पास ही एक चाँदी की तिपाई पर कुछ बोतलें तथा एक झारी रक्खी हुई थी, कुछ प्याले भी धरे हुए थे। दीवार पर चारों कोनों में धीमी रोशनी-वाली मोमबत्तियां जल रही थीं। बादशाह ने जाकर मसनद के सहारे आसन लगाया, लालकुँवरि पास बैठ गई। प्याले सामने आए, और भरे गए। लालकुँवरि ने गुलबानू की ओर देख कर कहा—"गुल! कुछ गाना भी हो न?"

"हुजूर! इस गली में कहां अच्छे गानेवाले मिलेंगे!"

"कैसे भी हों, बुलवाओ जरूर। अगर अच्छे गवैयों को ही सुनना होता, तो यहां क्यों आते? शराब के दौर के साथ कुछ नाच-गान भी तो होना चाहिए।"

"जैसी मर्ज़ी।" गुलबानू उठ कर प्रबन्ध करने चली। इधर बादशाह ने कहा—

"कहो लाल! क्या ख़ूब रही! इस जीवन में भी कुछ लुत्फ़ जरूर है। जो मज़ा यहां के इस प्याले में है, वह क़िले में सदियों पुरानी बोतलों में भरी, बरफ से ठंडी की हुई शराब

में कहां? और यहां कौन जानता है कि हम-तुम कौन हैं? कोई यह कहनेवाला भी तो नहीं कि यह अच्छा है या बुरा; इससे शाही तहज़ीब में ख़लल पड़ता है! उस ज़िंदगी से उकता कर ही तो मैंने तुमसे आज वहाँ से भाग कर कहीं अनजाने स्थान में ही शाम बिताने को कहा था।"

"हां हुज़ूर! मुझे मालूम था कि यहां सब इंतजाम हो जायगा, और किसी को भी पता न लगेगा; तभी तो यहां लाई हूँ। रही गुलबानू की बात, सो वह किसी से न कहेगी।"

"ख़ूब! ख़ूब! इसी बात पर एक-एक प्याला भरा जाय।"

लालकुँवरि ने शराब प्यालों में ढाली।

शीघ्र ही सीढ़ियों पर पैरों की आवाज़ सुन पड़ी, और गुलबानू के पीछे-पीछे एक रंडी मय सारे साज़ के दालान में आती नज़र आई।

"आदाब! आदाब" के बाद स्वर मिलाए गए, तबल खड़का, सारंगी के तार झनझना उठे, और उस रंडी ने ख़रख़राते हुए गले से गाया—

"उफ़! तेरी काफ़िर, जवानी जोश पर आई हुई।"

तीन चार प्याले पी चुके थे; पुनः आज दिन भर की थकावट से बादशाह कुछ बदहवास हो रहे थे। गाने की इस तान को सुनकर एक बार फिर प्याला ढाला, और कुछ चबेना चबाते हुए बोले—

"लाल ! कहो, अब भी मुझमें वही पुरानी मस्ती है न जो बार-बार उस मस्ताने जोबन की याद दिलाती है।"

"हुज़ूर ! इन पके हुए बालों को देख कर भी यह कैसे मानूँ ?"

"पके हुए बाल; लाल ! खूब कही ! तुम्हें यह कैसे मालूम हुआ ?"

"वाह हुज़ूर ! क्या मुझे यह भी पता नहीं है कि हुज़ूर ख़िजाब करते हैं ?"

"ख़िजाब-हिजाब से क्या होना है लाल ! यह तो दिल की बात है। देखो न, यही गानेवाली तो कह रही है—

'सिर से पांव तक छाई हुई'

"क्या दिल उसमें नहीं आता है ?"

लाल हँस पड़ी, और पुनः प्याला ढालती हुई बोली—"ख़ूब !" और रंडी की ओर देखकर बोली—"ख़ूब शेर कहा, एक बार फिर सही"।

बादशाह ने प्याला उठाया, ओठों तक लगाया, एक सांस में पी गए, और अस्फुट ध्वनि में फिर बोले—"लाल ! यह दिल की..."; लाल ने बादशाह की ओर देखा, वह झूम रहे थे; उनकी ओर कुछ देर तक देखती रही, और उस अधूरे वाक्य को सुन कर कुछ सोचती रही। फिर धीरे से उठकर गुलबानू को एक ओर ले गई और बोली—"गुल ! अब देर हो रही है,

बादशाह को भी नींद आ रही है, गानेवालों को अब रवाना कर दो।"

शीघ्र ही पुनः उस दालान में निस्तब्धता छा गई। बादशाह आँखें बन्द किए मसनद के सहारे बेहोश पड़े थे। जब सबको रवाना करने के बाद गुलबानू ऊपर आई, तो लालकुँवरि ने कहा—"गुल! अब तो चलेंगे। हाँ, बादशाह को किस प्रकार नीचे ले चलेंगे?"

"क्यों, क्या बेहोश हो गए हैं?"

"हाँ। जब पीने लगते हैं, तब यही हो जाता है। ५० बरस की यह उम्र और उस पर उस मस्ताने जोबन की वह हविस! रथवान तो होगा न, उसे ही ऊपर बुलाओ।".

"परन्तु लाल! वह भी तो शराब पी रहा था। उसने माँगा, तो कैसे नाहीं करती, उससे तो यह होना मुश्किल है। देखो, नीचे जाकर और किसी को बुलाकर लाती हूँ।"

"गुलबानू! देखो, यह बात किसी को मालूम न होने पावे।"

"लाल! जब तुम जा ही रही हो, तो थोड़ी देर हो जाय तो क्या! आई हो तो एकाध प्याला और पी लो अच्छी शराब भी मेरी दूकान में है; और कौन तुम रोज़-रोज़ मेरे यहाँ आने वाली हो। अब तो लाल क़िले में रहने वाली ठहरी?"

"गुल! मैं नाहीं नहीं करती, परन्तु देखो, जल्द जाना है, फिर पहले भी पी चुकी हूँ।"

"लाल! यह न होगा। एक-आध प्याला ही सही बड़ी बढ़िया

शराब है। चखोगी, तो फिर लाल क़िले में भी इसी को याद करोगी। कहती हूँ फिर वहाँ भी मेरी ही दूकान से मँगाओगी। मैंने पहले नहीं निकाली कि बादशाह सलामत उस नशे में उसकी परीक्षा न कर सकेंगे; व्यर्थ बोतल ख़राब करने से क्या फ़ायदा?"

बादशाह गहरी नींद में पड़े रहे, और उधर प्याले भरे जाने लगे। लालकुँवरि ने एकाध प्याला गुलबानू को भी पिलाया।

"तो अब जाऊँगी, रथ मँगवाओ।"

"हाँ, अभी सब प्रबन्ध किए देती हूँ।"

शीघ्र ही गुलबानू एक हट्टे-कट्टे, लम्बे-चौड़े, काले हबशी को लिए आई, और बादशाह की ओर उँगली करके बोली—

"अबे! उस पियक्कड़ को उठाकर नीचे जो रथ खड़ा है, उसमें डाल आ। ये मुए न-जाने क्यों इतना पी जाते हैं, जो उठवाकर भेजना पड़ता है।"

"बिलकुल बेहोश पड़ा है"; उस हबशी ने उठाते हुए कहा—"कोई नवाब जान पड़ते हैं।"

"तुझे इससे क्या, होंगे अपने घर के नवाब, मेरी इस दूकान में किसकी क्या हस्ती। दिल्ली का बादशाह भी आकर पड़ रहे, तो उसे भी इसी प्रकार फिकवा दूँगी।"

"हबशी बादशाह को उठाकर चला, और पीछे गुलबानू के साथ लड़खड़ाती हुई लालकुँवरि आने लगी। सीढ़ी उतरते-

उतरते गुलबानू बोली—"लाल ! बुरा न मानना यह सब इसीलिए कहा कि इन मुओं को कुछ ख़बर न पड़े ?"

"गुल ! तुम भी क्या बात करती हो, ये बदनसीब शाहज़ादे और बादशाह, सब ऐसे ही हैं । इनमें धरा क्या है ? नहीं तो......" लालकुँवरि लड़खड़ा रही थी, दीवार सम्हालने लगी ।

"रथ में डाल दिया ?" नीचे उतर कर गुलबानू ने हबशी से पूछा ।

"जी ।"

"ऐ रथवान ?" लालकुँवरि ने कहा ।

"जी मलका साहिबा ?"

"अब चलो लाल क़िले । रास्ता तो जानता है ?"

"क्यों नहीं । वहीं से तो हुज़ूर और बादशाह सलामत को लाया था । दो प्याले पी कर ही क्या दिल्ली के रास्ते भूल जाऊँगा ?"

"तो अब चली गुल" लालकुँवरि ने रथ का परदा डालते हुए कहा, "सिर चक्कर खा रहा है । गुल ! अब फिर कभी क़िले आना । यह लो मेरी अँगूठी; इसे बताना, तो तुम्हें आने देंगे । वहीं फिर बात करेंगे ।"

आधी रात को दिल्ली की गली में एक बार फिर रथ चला, सम्राट् और उनकी प्रेयसी को लिए क़िले के लिये रवाना हुआ । सम्राट् बेहोश थे; उनकी प्रेयसी मस्त पड़ गई, उसे नींद आ गई,

और गाड़ीवान भी मतवाला बना चला जा रहा था।

❀ ❀ ❀

"क्यों जी ! कुछ सुना ?"

"क्या ?"

"देखो, बहुत ही ख़ानगी बात।"

कान के पास मुँह ले जाकर सिपाही अपने साथी से बोला—"बादशाह सलामत खो गए।"

"बादशाह खो गए !" आश्चर्य के साथ वह साथी चीख़ पड़ा।

"जरा धीरे बोल भाई ! सचमुच खोगए। अब उनकी तलाश हो रही है।"

"हिंदोस्तान के बादशाह खोगए ? दिल्ली में खोगए ! नहीं भाई, कुछ समझ में नहीं आता। कल शाम को चाँदनी चौक में जोहरा की दूकान पर तो उन्हें देखा था।"

"तो यह भी कोई दिल्लगी है, जो तुमसे झूठ कहूँगा ! ख़ुदा की क़सम, बिलकुल सच बात है।"

❀ ❀ ❀

"एरी, सच तो बता, बादशाह सलामत हैं कहां ? क्या लालकुँवरि के महल में नहीं हैं ?" खोजे ने डपट कर बाँदी से कहा।

"मुझे क्यों लाल-पीली आंखें दिखा रहे हो ? मैं क्या जानूँ, बादशाह सलामत कहाँ हैं। न-जाने कहाँ-कहाँ मलका के साथ

गलियों में घूमते फिरते हैं, और न मिलें, तो मुझसे पूछो। जाओ, पूछो न मलका से। रथ में बेहोश पड़ी थीं, उन्हें तो मुश्किल से उठाकर ले आई। मलका, बादशाह, इन सबको अपनी फ़िकर नहीं। हम बांदियों के सिर यह नया काम कि दिल्ली के बादशाह की भी फ़िक्र करें, और सम्हालें कि कहीं खो न जायँ!"

"नालायक़, बदज़ात" कहकर खोजे ने दो चपतें बांदी के लगाईं; "इसके हौसले देखो, मलका को गालियां देती है"।

बांदी रोती, बड़बड़ाती चली गई।

खोजे ने जाकर खोज की; लालकुँवरि के महल में भी बादशाह न मिले। लालकुँवरि अब भी सो रही थी। बांदी ने जाकर जगाया, अर्ज़ की—

"हुज़ूर, बादशाह सलामत का पता नहीं लग रहा है। सारे लाल क़िले को खोज डाला कहीं भी न मिले।"

"बादशाह सलामत? क्यों क्या कल नहीं लौटे? रथ में सुलाकर तो मैं लाई थी।"

"हुज़ूर, हमें नहीं मालूम। बांदी कहती है कि रथ से अकेले हुज़ूर को ही उतारा; उसे बादशाह सलामत का पता नहीं।"

"मुझे रथ से उतारा, कुछ याद नहीं पड़ता। गुलबानू ने बादशाह......" कुछ रुक कर "हां-हां। बादशाह मेरे साथ लौटे तो थे। फिर?"

"कुछ मालूम हो तो बादशाह सलामत को ढूँढे।"

"मुए दिल्ली के बादशाह सलामत को ढूँढने चले हैं ? जरा बुलाओ तो न्यामत को।"

❀ ❀ ❀

"न्यामत भाई, देखो तो, बादशाह सलामत का पता नहीं लग रहा है।"

"हां, कुछ मैं भी ऐसी ही गड़बड़ सुन रहा हूँ।"

"देखो, कल रात हम घूमने गए थे, रथ में अकेले थे, मैं भी सो गई थी; अब तो रथवाले से पूछने से ही पता चलेगा।"

"हाँ अभी पूछता हूँ। परन्तु मेरी सनद की जल्दी करना।"

"सनद-सनद मचा रक्खी है ? बादशाह का पता चले, तो वह सूबेदारी दें। कल कहीं मुआ मर गया, तो क्या करोगे ?"

❀ ❀ ❀

"अबे रथवाले, हरामजादे, नींद में ऐसा पड़ा है, जैसे दिल्ली का बादशाह हो। क्या रात को नशा कर लिया था ?" इतनी आवाज देने पर भी जब रथवान न बोला, तो न्यामत ने दस-पाँच गालियां देकर उसे दो लातें लगाईं।

रथवान हड़बड़ा कर उठा, और सिर पर पगड़ी रखने भी न पाया था कि न्यामत ने उसकी गरदन पकड़ी और पूछा—"साले, बता न बादशाह सलामत को कहां डाल आया ?"

"मैं क्या जानूँ हु.जूर ! लाल क़िले पहुँचा आया था।"

"क़िले में तो नहीं हैं ? गए कहां ? कहीं रास्ते में तो नहीं गिर गए ?"

"नहीं हुज़ूर ! सरकार लोगों की सवारी में कहीं ऐसी ग़फ़लत हो सकती है ?"

"तो आख़िर जहांपनाह का पता लगे कहाँ ?"

"तो क्या सरकार ! लाल क़िले में नहीं उतरे ?"

"उतरे होते तो यह रोना क्यों मचता ? तुझसे मुए के घर मैं आता ? नहीं पहचानता मुझे ? मैं 'मुलतान का सूबेदार' हूँ।"

"हुज़ूर को न पहचानूँगा, तो जाऊँगा कहाँ। हुज़ूर ! बादशाह सलामत रथ में तो सो रहे थे, अगर क़िले में नहीं उतरे, तो ....।"

"रथ कहाँ छोड़ा ?"

"हुज़ूर, अस्तबल में।"

❀ ❀ ❀

"देखिए हुज़ूर ! मैंने ठीक कहा था न कि मैं ऐसी ग़फ़लत थोड़े ही कर सकता हूँ कि सवारियां रास्ते में उतर जांय या गिर पड़ें, और मुझे पता न चले। देखिए, बादशाह सलामत तो रथ में ही लेटे हुए हैं !"

"क्या ख़ूब !" न्यामत बोला—"दिल्ली के बादशाह लापता और मिलें सरकारी अस्तबल में रथ में पड़े हुए। उन्हें सम्हाल कर उतारनेवाला भी कोई न मिला ?"

बादशाह जहाँदारशाह पड़ा ख़र्राटे ले रहा था; बेख़बर सो

रहा था। उसे जगाते हुए न्यामत ने कहा—"जहाँपनाह! हुज़ूर तो यहां लेटे हुए हैं, और मुझे अभी तक मुलतान की सूबेदारी की सनद नहीं मिली!"

अँगड़ाई लेकर बादशाह ने करवट ली, और आंखें मसलते हुए उठे, और बोले—"क्या कहा? सनद! मैं सनद देनेवाला कौन? तुम? यह कौन-सी जगह है!......हें" और कुछ देर के बाद—"अरे, अब याद आई! मैं दिल्ली का बादशाह जहाँदार...हाँ, परन्तु यहाँ सरकारी अस्तबल में.....अभी तो सुबह हुई है न?"

"हाँ हुज़ूर!" न्यामत बोला, "जहाँपनाह आज खो गए थे; इस सरकारी अस्तबल में हु.जूर का पता लगा।"

[जुलाई, १६३५ ई०

———

"सेवासदन से गोदान तक"

"सेवासदन से गोदान तक"

(कुछ साहित्यिक संस्मरण)*

"कहीं यह 'गोदान' प्रेमचन्द का आखरी उपन्यास न हो जाय," सुदर्शनजी चिंतापूर्ण स्वर में बोले।

"क्यों ? क्या प्रेमचन्दजी को साहित्य से विराग हो गया है ?" चुलबुलाहट-भरी आवाज में मैं पूछ बैठा।

"क्या तुम्हें मालूम नहीं कि प्रेमचंद जलोदर से पीड़ित मृत्युशय्या पर पड़ा अंतिम सांसें ले रहा है ? डाक्टरों को आशंका है कि शायद वह कुछ ही महीनों का मेहमान है।" सुदर्शनजी के इस कथन में कुछ भर्त्सना और दुख के स्वर विद्यमान थे। वे समझ न सके थे कि किस प्रकार कोई भी हिंदी-साहित्य-प्रेमी अपने एक महान् कलाकार के प्रति ऐसा उदासीन हो सकता है कि उसके दुखदर्द की उसे कुछ भी खबर न हो।

"सचमुच ?"

"एक एक अक्षर सत्य है" सुदर्शनजी जरा ऊँचे स्वर में कह गए।

"तब तो हिंदी-साहित्य का दुर्भाग्य निकट भविष्य में ही विजयी होगा !"

"हाँ ! प्रेमचंद की मृत्यु से होनेवाली क्षति को पूरा कर सके ऐसा कोई कलाकार आज तो हिंदी-साहित्य-संसार में देख नहीं पड़ता है।"

सितम्बर १६३६ की ता० २२ को कलकत्तां के 'मेजेस्टिक होटल' में हुई उपरोक्त बातें वहीं की वहीं रह गईं; सुनी-अनसुनी होगईं; यह मानते हुए भी कि सुदर्शनजी झूठ बात न कहेंगे, 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', और 'कर्मभूमि' के लेखक को मैं अजर-अमर माने बैठा था। अभी तो कुल मिलाकर कोई ८-९ ही उपन्यास उन्होंने लिखे हैं, क्या इतना जल्द वह हमें छोड़कर चल देगा ? प्रेमचंदजी की मृत्यु-वेदना को हम न समझ सके, उसका विश्वास भी न हुआ, उसका हमें ध्यान क्यों रहता ?

× × ×

कोई ढाई सप्ताह बाद सीतामऊ में:—

अँधेरा हो गया था, रात हो चली थी, दिये जल चुके थे, किटसन लेम्प भर-भर करता हुआ दहक रहा था, सारे ड्राइङ्गरूम को जगमगा रहा था, और एक ओर एक गद्देदार कुर्सी पर बैठा

मैं रेडियो सुन रहा था। दिल्ली का प्रोग्राम आ रहा था, कोई नवयुवा सुन्दरी, अपनी दर्दभरी आवाज़ में एक तड़पती हुई गज़ल गा रही थी, प्रेम और दर्द का प्रवाह उमड़ा पड़ता था, और मैं बैठा ध्यानपूर्वक सुन रहा था। और पास ही इधर-उधर बैठे थे दूसरे कुछ छात्र जो विशेषतया रेडियो सुनने ही को आए थे, परंतु फिर भी अपनी फुस-फुसाहट से बाज़ आते न थे।

"........मर गए" इन दो शब्दों के मेरे कान पर पड़ते ही मैं चौंक पड़ा; उस गज़ल का ध्यान न रहा, चिन्ता-पूर्वक उतावली के साथ पूछा—"कौन मर गया?"

उस छात्र के हाथ में थी श्रीमती कमलादेवी चौधरी की कहानियों का संग्रह "उन्माद"; उसने भूमिका की ओर संकेत करके कहा—"इसके लेखक प्रेमचन्द"।

"क्या प्रेमचन्द मर गए ? कब मरे ? कहां सुना या पढ़ा ? क्या यह खबर सच है ?" ये तथा इसी प्रकार अनेकों प्रश्न एक ही सांस में पूछ गया।

"प्रेमचन्द ही हिन्दी के बड़े उपन्यास लेखक थे न ? कल के "अखण्ड भारत" में यह खबर छपी थी कि वे मर गए। उसमें लिखा था कि हिन्दी-साहित्य का सूर्य अस्त हो गया।" छात्र अपनी धीमी आवाज़ में बिना किसी उद्वेग के कह रहा था।

परन्तु विश्वास न हुआ; विश्वास करने को जी चाहता न था, एक बार फिर निराशापूर्ण स्वर में पूछे बिना रहा न गया—

"क्या सचमुच प्रेमचन्दजी मर गए ?" और उस प्रश्न का फिर भी वही एक शब्द वाला उत्तर मिला—"हां"।

"भाई ! तुमने बहुत ही बुरी खबर सुनाई।" बड़ी मुश्किल से मैं यह बात कह सका, जी धक से रह गया। रेडियो बन्द कर दिया, छात्रों को भगा दिया और बढ़ती हुई रात के उस सन्नाटे में चुपचाप बैठा सोचता रहा।

"सेवासदन" से लेकर "गोदान" तक के सारे इतिहास की सुध आई; उस बिखरे हुए अँधेरे के पट पर एक एक करके प्रेमचन्दजी के वे अजर-अमर पात्र आंखों के सामने आए और लोप हो गए।······सो अब इन सबका निर्माता न रहा, अब उनकी संख्या में वृद्धि न होगी। महीनों के इन्तज़ार के बाद "गोदान" मिला था, एक साँस में पढ़ गया था, परन्तु अब किसकी बाट देखूँगा······? प्रेमचन्दजी मर गये और हमें पता भी न लगा।

× × ×

सन् १९१७ की बात है, महीनों के इन्तज़ार के बाद दिवाली के दिये जलाने के दिन आए थे, बरसात के अँधेरे दुर्दिनों के बाद एक बार फिर रात जगमगा उठेगी, चपला चंचला से विभूषित होकर अब अमावस्या की वह अँधेरी रात दहकते हुए स्नेह से आलोकित होने को उत्सुक हो रही थी। इस बार भी तो भारतीय नरेश दिल्ली में एकत्रित होंगे, और पिछले साल की ही तरह इस बार भी वे जगमगाते हुए दिन दिल्ली

में ही बीतेंगे। दिल्ली की दिवाली, नवयुवा दिल्ली का नवीन श्रृंगार·····अनोखे नये नये किस्म के पटाखे·····बचपन का वह अजीब आकर्षण आज भी दिल में गुदगुदी पैदा कर देता है।

दूसरे दिन ही तो सुबुह में रवाना होना था। और आज धन-तेरस का शुभ दिन था, लक्ष्मी की पूजा होने वाली थी; आज तो माँगने पर भी कोई दो पैसा व्यर्थ उधार देने को तैयार नहीं होता,·····परन्तु सुबुह सुबुह ही तो आ पहुँचा, सीतामऊ का वह बूढ़ा चिरपरिचित चिट्ठीरसा, रामलाल और उसके हाथ में थी पुस्तकों की एक वी० पी० पारसल। उस दिन उस वी० पी० के दाम देते बहुतों को अखरा परन्तु किसी भी तरह वह पारसल छुड़ा ली गई। पुस्तकें, नई पुस्तकें और उस पर एक उपन्यास और एक कहानियों का संग्रह·····दिवाली के दिनों में होने वाली उस दिल्ली की सफर में यह एक और दिलचस्प सामग्री·····खुशी में खुशी बढ़ती चली जा रही थी। उस जमाने में कला का मुझे ख़याल न था, तब कौन बैठ कर यह सोचता कि लेखक कहाँ तक अपने पात्रों के हार्दिक भावों को पूर्णतया दिखाने में सफल हुआ है। उपन्यास और कहानियों के नाम में ही आकर्षण था·····तब किसी ने यह पूछने की न सोची कि उस उपन्यास का लेखक कौन है, किस साहित्यिक ने उस कहानियों की रचना की है।·····बस यही ख़याल आ रहा था कि अब रेलवे ट्रेन में समय काटने

को काफ़ी मसाला हो गया। उस समय घटना-वैचित्र्य तथा कौतूहलोत्पादक कथानक ही आकर्षक प्रतीत होते थे; हिन्दी के तत्कालीन उपन्यासों में इन्हीं सब बातों का प्राधान्य होता था। तब कौन पूछता था बेचारे लेखक का नाम या उसकी कला की बात।

हिन्दी साहित्य और उसके साहित्यिकों के लिए वह एक अनोखा युग था। जिन्होंने माधुरी के बाद के ही दिन देखे हैं और तब ही का जिन्हें खयाल रहा है उस प्रारम्भिक काल का पूरा-पूरा अन्दाज़ा उन्हें नहीं हो सकता है। प्रेमचन्दजी अनजाने, चुपके से हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में उतर आए—कई जानते थे कि वे उर्दू साहित्य के एक अत्यन्त सिद्धहस्त सफल साहित्यकार हैं, परन्तु उस युग में इस बात को लेकर साहित्य संसार में ढिंढोरा नहीं पीटा गया; न तो कोई शोरगुल हुआ, न बड़ी-बड़ी विज्ञापन-बाज़ी हुई और न लम्बे सम्पादकीय नोट या बड़ी परिचयात्मक टिप्पणियाँ ही लिखी गईं। वह "सरस्वती-युग" था, जब पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हिन्दी को इसका आधुनिक नूतन स्वरूप प्रदान कर रहे थे और हिन्दी भाषा-भाषियों को हिंदी साहित्य की ओर ध्यान देने के कर्तव्य की सुध दिला कर या कठोर भर्त्सना द्वारा उन्हें इस क्षेत्र में उतर पड़ने की बात सुझा रहे थे। हिन्दी भाषा का नवीन स्वरूप गढ़ा जा चुका था, परंतु अभी तक भाषा का न तो अबाध प्रवाह बहता था और न वह मँज ही चुकी थी। पुनः अभी तक उसका अपना

साहित्य नाम मात्र को ही था। एवं अन्य भाषा के एक सिद्धहस्त साहित्यकार का मौलिक लेखक के स्वरूप में हिन्दी-साहित्य-संसार में प्रवेश करना एक महान घटना थी; किन्तु तब इस घटना के महत्व को कोई समझ न सका या यों कहिए कि किसी ने उसके महत्व को समझने का प्रयत्न न किया। उर्दू साहित्य पर अपना आधिपत्य स्थापित करके अब प्रेमचंदजी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में विजय करने को निकले, परन्तु उनके साथ उनके विज्ञापनों की भीड़ न थी; वह कलाकार अकेला ही आया था, आज भी वह अकेला ही चुपके से चल दिया है। यों उस कलाकार ने बिना जताए ही हिन्दी भाषा के इतिहास में एक नवीन युग प्रारम्भ किया और हिन्दी साहित्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ गया।

× × ×

और दूसरे दिन, ट्रेन में जब चलते हुए डब्बे की पटरी पर होने वाली "खट-खट" ध्वनि की ताल के साथ प्रेमचंद के उन सप्तसरोजों को सूंघना शुरू किया तो ध्यान आया कि उसमें दी गई कई कहानियाँ पहिले ही अनेकानेक मासिक पत्रों में छप चुकी थीं, 'बड़े घर की बेटी' 'हिंदी गल्पमाला' में और 'पंच परमेश्वर' 'सरस्वती' में। किंतु इस पर भी उन सब कहानियों को एक बार फिर पढ़े बिना न रहा गया। "नमक के दारोगा" की एक अमिट स्मृति रह गई और अलोपीदीन तथा वंशीधर की उस रात की बातचीत, अदालत का वह दृश्य, और

अंत में अलोपीदीन की गुणग्राहकता दिल पर चोट कर गई। भाषा-शैली के विशेषज्ञ कहते हैं कि प्रेमचंदजी की प्रारम्भिक कृतियों की भाषा उखड़ी हुई है, कई प्रयोग ग़लत हुए हैं, उस पर प्रांतीयता की छाप है, भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है और भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता है। किंतु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि थोड़ी सी फ़ुरसत के समय यदि आज भी सप्तसरोज की प्रति हाथ में पड़ जावे तो एक बार फिर उन कहानियों को पढ़ कर उतना ही आनंद उठा सकता हूँ जो उस पहिले दिन आया था। प्रेमचंदजी की प्रारम्भिक कहानियों में अनोखी नूतनता तथा अद्वितीय नवलैता है, जो कई बार पढ़ लेने पर भी एक बार और पढ़ने के लिए पाठक के दिल में स्फुरणा पैदा करती है।

परंतु 'सप्तसरोज' को एक बार पूरा पढ़ डालने में सिर्फ एक-दो घण्टे लगे और तब आई 'सेवासदन' की बारी। यह एक मौलिक उपन्यास था, और उसमें जासूसी उपन्यासों की सी रोचकता पाने की उम्मीद न थी। और न यह किसी महान् पाठक-समाज या समालोचक-वृन्द द्वारा पसंद किया जा चुका था, एवं हिचपिचाहट के साथ इसे पढ़ना शुरू किया, किंतु उसका पहला अध्याय समाप्त करते-करते दिल ऐसा लगा कि उसके सामने अनेकों साधारण जासूसी उपन्यास फीके से जँचने लगे। एक बार समाप्त कर लेने पर दूसरी बार फिर पढ़ने को ज़ी चाहा। वह उम्र थी जब छोटी सी बात पर जी

रो देता था, दूसरों के दुख-दर्द दिल पर बड़ी चोट करते थे। सुमन के दुर्भाग्य की वार्ता तथा उसी के फलस्वरूप सुमन की छोटी बहिन शांता पर होनेवाले अत्याचारों को पढ़ कर जी छटपटाने लगा, परंतु जिस चातुर्य्य तथा स्वाभाविक रूप से लेखक ने अंत में शांता और सदन का मेल कराया, उनके जीवन के सच्चे प्रेम-तंतुओं के सहारे उनको एक कर दिया और ज्यों सुमन के बिगड़े दिन फिर सुधरे, उसकी वह साधना, वह तपस्या तथा सेवाधर्म का पालन.....; 'सेवासदन' को पढ़ कर प्रेमचंद के नाम के प्रति आकर्षण ज़रूर उत्पन्न हो गया, उनकी कृतियों में कुछ न कुछ सुन्दर तथा मनोरंजक पाने की भावना दिल में घर कर गई। इसी कारण जब कोई दो बरस बाद किसी स्थानीय विद्यार्थी के हाथ में "वरदान" नामक उपन्यास को देखा और लेखक के स्थान पर प्रेमचंदजी का नाम पढ़ा तो इकबारगी उसको छीन कर पढ़ने बैठ गया,...... उतावली किसी प्रकार कम न हुई, इसके विरुद्ध वह बढ़ती हुई जान पड़ी।

वह युग उतावली का था, आज भी वह उतावली कई बार अपना प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहती। सो 'वरदान' के लिए बहुत छीना-झपटी हुई और उसी के फलस्वरूप थोड़ा बहुत रोना-धोना भी हुआ। उस समय हिंदी के प्रतिष्ठित् लेखकों की पुस्तकों को छपते ही मँगवाने की प्रथा का ज़ोर न था, और न तब आजकल की सी विज्ञापन-बाज़ी ही होती थी—तब तक

प्रेमचंदजी पाठकों के लाड़ले बने न थे। 'सेवासदन' के बाद एक और आश्रम निर्माण का कर्त्तव्य बाकी था। एवं जहाँ तक छपा-छपाया 'वरदान' देखने को न मिला तब तक उसके प्रकाशन का पता न लगा। और जब उस सारी छीना-झपटी के बाद उसे पढ़ने बैठा तो संध्या की उस गोधूलि में भी उसे छोड़ने को जी चाहता न था। परंतु संध्या को हवा खाने के लिए जाना ज़रूरी था, इधर 'वरदान' समाप्त नहीं हो रहा था और उधर जिनको 'वरदान' पढ़ने को मिला न था वे औरों को पढ़ने देना भी न चाहते थे। 'वरदान' को लेकर दूसरा झगड़ा मचा, किंतु जब चिराग़ जल उठे तब तो सारा समय अपना ही था, वह उपन्यास भी तो छोटा ही था, रहे सहे बाकी पृष्ठ रात्रि को शीघ्र ही समाप्त हो गए। छात्रों के लिए "वरदान" में एक विशेष आकर्षण है, उसका नायक भी एक अच्छा विद्यार्थी तथा एक मँजा हुआ खिलाड़ी है और इसी कारण जो कोई पाठक स्वयं अच्छा खिलाड़ी और विद्यार्थी होता है वह उस नायक में अपनी भावनाओं तथा उच्चाकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब देखता है। "वरदान" युवकों का उपन्यास है।

किन्तु "वरदान" को एक ही बार पढ़ सका, दूसरे की चीज़ थी उसे लौटाना पड़ा, तब भी उसके पाठक बहुत थे। उस युग में यद्यपि कई पुस्तकों को एक से अधिक बार पढ़ने को जी चाहता था परन्तु फिर भी उनको एकत्रित करने की, उन्हें अपने जीवन का चिरसंगी बनाने की चाह तब तक

अधिक बढ़ी न थी। प्रेमचन्दजी के नाम में आकर्षण अवश्य पैदा हो गया था, किन्तु तब तक वे एक लब्ध प्रतिष्ठित उपन्यास-कार माने न गए थे। एवं 'वरदान' को योंहीं माँग कर शायद एकाध-बार फिर पढ़ा परन्तु उसकी प्रति मोल न ली, और खरीदने को जी चाहा तब तक शायद वह उपन्यास अप्राप्य हो गया था। इन पिछले दिनों में उसे फिर नहीं पढ़ा है और उसके विषय में जो कुछ लिखा है वह उन्हीं प्रारम्भिक दिनों के संस्मरणों के आधार पर।

'वरदान' प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन की एक विशिष्ट दशा की सीमा अंकित करता है। 'सेवासदन' और 'वरदान' दोनों प्रधानरूपेण सामाजिक उपन्यास हैं, समाज की उलझी हुई समस्याओं को लेकर ही प्रेमचन्दजी ने अपने कथानक को उठाया है, और उन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। तब तक भारतीय जनसमाज और हिन्दी का साहित्य संसार राजनीति से पूर्णतया विमुख था, और राजनैतिक आन्दोलन केवल कुछ शिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित रहा। 'बंग-भंग' ने यद्यपि बंगाल में हड़कम्प पैदा किया था, उसके फलस्वरूप महाराष्ट्र में तूफान उठा था, परंतु हिंदी-भाषा-भाषी प्रांत तब भी निर्जीव थे और अधिक से अधिक "अकबर" या "चकबस्त" की शायरी पढ़ कर संतुष्ट हो जाते थे। परंतु इसके विपरीत सन १९२१ के असहयोग आन्दोलन का हिंदी-भाषा-भाषी प्रान्तों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, उसके फलस्वरूप राजनैतिक प्रश्न किस प्रकार

जनसमाज के सोचने और समझने की वस्तु हो गए, इसका स्पष्टीकरण प्रेमचंदजी के उपन्यासों से होता है। 'सेवा-सदन' के प्रेमचंद "प्रेमाश्रम" के प्रेमचंद से बहुत विभिन्न हैं। उपन्यास जगत में उनकी महान् सफलता का रहस्य इस निरंतर विकसित होते हुए राष्ट्रीय जीवन तथा तत्सम्बंधी समस्याओं के बढ़ते हुए क्षेत्र में निहित है। प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प और कर्मभूमि में भारत के विगत सोलह वर्षों के राजनैतिक इतिहास की पूरी-पूरी विशद विवेचना तथा उस युग का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब है। उन्हें पढ़कर पाठक को भारत के निरंतर बदलते हुए राजनैतिक चित्रपट का पूरा-पूरा दृश्य देखने को मिलता है।

"वरदान" छपा और प्रकाशित हुआ, परंतु साधारण जनसमाज की तो क्या कही जाय, हिंदी के दिग्गज साहित्यिकों को भी उसका पता न लगा, और "प्रेमाश्रम" की भूमिका लिखते समय श्रीयुत रामदासजी गौड़ लिख गए "प्रेमाश्रम" आपका (प्रेमचन्दजी का) दूसरा उपन्यास है।" यह कहना अत्युक्ति न होगी कि 'सेवासदन' के सामने 'वरदान' टिक न सका और जब 'प्रेमाश्रम' सामने आया तो पाठकों ने 'सेवासदन' के लेखक की कृति के स्वरूप में ही 'प्रेमाश्रम' को स्वीकार किया।

× × ×

किन्तु तब तक प्रेमचन्दजी, हिन्दी के सिद्धहस्त कहानी-

लेखक माने जा चुके थे। इन्हीं दिनों "नवनिधि" और "प्रेमपूर्णिमा" नामक दो गल्प-संग्रह प्रकाशित हुए और इन संग्रहों से प्रेमचन्दजी की ख्याति अधिकाधिक स्पष्टतर होती जा रही थी। "नवनिधि" की सब कहानियाँ एक से एक अधिक सुन्दर हैं और उसके प्रकाशन के कुछ ही बरसों बाद जब भारत में राष्ट्रीय भावनाओं की बाढ़ आई तब तो उस संग्रह की कई कहानियाँ अधिकाधिक चाव के साथ पढ़ी जाने लगीं, और भारत के उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखने वाले "रानी सारन्धा," "पाप का अग्निकुण्ड", "मर्यादा की वेदी" और "जुगुनू की चमक" में एक नवीन आदर्श का आभास देखने लगे। भारत के अतीत की वे गौरवपूर्ण कथाएँ दैविक योगायोग से ऐसे समय प्रकाशित हुईं कि उनका सामयिक महत्व बढ़ गया। आज भी कुछ-कुछ स्मरण होता है उन दिनों का जब ये कहानियाँ दिल की धड़कन को तेज कर देती थीं, उन्हें पढ़ कर जब छाती फूल उठती थी और स्वदेश के विगत उज्ज्वल के इतिहास की सुध होते ही कर्नल सर जेम्स टाड के उस अत्यधिक उद्धृत वाक्य का* स्मरण हो जाता था और साथ ही संसार के अन्य देशों तथा जातियों के इतिहास को तुच्छ समझ लेने को जी चाहता था। और तब आई "प्रेमपूर्णिमा" जो तत्कालीन देश की

---

*"राजस्थान में कोई छोटा सा राज्य भी ऐसा नहीं है कि जिसमें थर्मापिली जैसी रण-भूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले, जहाँ लियोनिडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।"

प्रगति के अनुरूप खादी का चोगा पहने थी, और इस गल्प संग्रह में थीं प्रेमचन्दजी की वे दो अमर गल्पें, जो पहिले "सरस्वती" में प्रकाशित हो चुकी थीं—"ईश्वरीय न्याय," और "दुर्गा का मन्दिर"।

× × ×

परंतु जब सन् १९२३ ई० में प्रथम बार "प्रेमाश्रम" भी खादी जिल्द में बँधा-हुआ प्रकाशित हुआ तो हिंदी-साहित्य-संसार में तहलका मच गया। एक हिंदी साहित्यिक ने प्रथम बार राष्ट्रीय राजनैतिक प्रश्नों को लेकर उपन्यास लिखा था। अब तक जितने उपन्यास हिंदी में पढ़ने को मिले थे वे सब सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी या इसी प्रकार के केवल घटना प्रधान ही थे। कोई मौलिक उपन्यास जिसमें तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं को लेकर कुछ लिखा हो, अब तक हिंदी में पढ़ने को नहीं मिला था। बंकिम बाबू का आनंदमठ एक ऐतिहासिक उपन्यास मात्र था, यद्यपि उसका राजनैतिक महत्व बहुत बढ़ गया था। उन्हीं दिनों रविबाबू के दो बंगला उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में हुआ था, "घरे बाहिरे" तथा "गोरा" का; और इन दोनों में ही तत्कालीन समस्याओं की विवेचना थी। वंग-भंग को लेकर उठने वाले राजनैतिक आन्दोलन की या पूर्व और पश्चिम की उस कठिन तथा न हल हो सकने वाली समस्याओं को लेकर रविबाबू चले थे। परंतु उस समस्त-भारत-व्यापी जागृति का, जो भारतीय समाज के निम्नतल तक हलचल

पैदा करने लगी थी, विवरण रविबाबू के उपन्यासों में न था। जब ये ऐतिहासिक आन्दोलन उठे तब तक रविबाबू उपन्यास लेखन की ओर से उदासीन हो चुके थे। एवं इन राष्ट्रीय आन्दोलन, तथा उनकी समस्याओं की विवेचना करने और उन्हीं के कथानक को अपने उपन्यासों में बुनने या उन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करने वाले भारतीय साहित्य में अकेले प्रेमचंदजी ही थे। इस प्रकार भारतीय इतिहास के भावी विद्यार्थियों के लिए प्रेमचंद के वे चार राजनैतिक उपन्यास, "प्रेमाश्रम" "रंगभूमि", "कायाकल्प" और "कर्मभूमि" विशेष महत्व रखते हैं। उस निकट या सुदूर भविष्य में जब इतिहासकार इस परिवर्तन युग का इतिहास लिखेगा, उसे इन चार उपन्यासों का सहारा अवश्य लेना होगा।

हम अब तक प्रेमचंदजी के सच्चे सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक महत्व को नहीं समझ सके हैं। "प्रेमाश्रम" के लेखन में प्रेमचंदजी की सफलता हिंदी साहित्य की एक बड़ी ही महत्वपूर्ण घटना है, जिसका ठीक-ठीक महत्व अभी तक कूँता नहीं गया। "प्रेमाश्रम" द्वारा उन्होंने साहित्य को तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन के साथ संबद्ध किया और यों हिंदी साहित्य को नवीन स्फूर्ति प्रदान की। हिन्दी साहित्य में उपन्यास तथा गल्प लेखकों के लिए एक नवीन क्षेत्र खुला। अनेकानेक त्रुटियों तथा दोषों के होते हुए भी प्रेमचंदजी अपने युग तथा क्षेत्र में एकाकी हैं और रहेंगे। आगामी भविष्य में कोई

उपन्यासकार इस विगत युग की घटनाओं को लेकर भले ही कुछ लिखे, परंतु वह कहाँ तक तत्कालीन भावनाओं, सन्देहों, कठिनाइयों तथा राष्ट्रीय आवेश, आत्मा और उद्वेग को समझ सकेगा, उन सब विभिन्न भावों को सफलतापूर्वक प्रदर्शित कर सकेगा यह देखने पर ही कहा जा सकता है। वह कला की दृष्टि से अधिक सफल हो जावे, परन्तु वह पूर्णतया इस युग की भावनाओं और समस्याओं का न तो ठीक तौर पर प्रदर्शन ही कर सकेगा और न उस युग की आत्मा का सच्चा प्रतिनिधि ही बन सकेगा। इसी कारण देशकाल को प्रतिबिम्बित करने में प्रेमचन्दजी इस विगत युग के अनेकानेक संसार प्रसिद्ध लेखकों से भी बहुत आगे बढ़ गए हैं। और राजनैतिक तथा तत्कालीन समस्याओं के साथ ही प्रेमचन्दजी ने मनुष्य की चिरन्तन भावनाओं को भी नहीं भुलाया, इसी कारण साहित्यिक तथा कला की दृष्टि से भी उनकी कृतियों का महत्व बना रहेगा। हिन्दी के ही नहीं सारे भारतीय साहित्य में प्रेमचन्दजी को बहुत ही उच्च स्थान दिया जावेगा; वह उनके लिए सुरक्षित है।

प्रेमचन्दजी असहयोगी थे और उस राजनीति विशेष के पूरे समर्थक भी; किन्तु उन्होंने दूसरे पक्ष को भी पूरा-पूरा दिखाया है। उन्होंने राष्ट्र के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला, किन्तु वे प्रधानतया साधारण मध्यश्रेणी के प्रतिनिधि और किसानों तथा ग्रामीण जीवन की दशा के सच्चे चित्रकार थे। इन्हीं सब समस्याओं को लेकर "प्रेमाश्रम" में उपन्यासकार ने

अपनी क़लम चलाई है। "प्रेमाश्रम" में प्रेमचन्दजी की सफलता के बारे में दो मत नहीं हो सकते हैं, किन्तु यह बात स्वीकार करते हिचक नहीं होती कि पढ़ते समय कहीं कहीं उसमें आने-वाले विस्तृत वाद-विवादों से जी ज़रूर ऊब उठता था, और यद्यपि उस समय का बहुत कुछ साहित्य पढ़ा था और तब थोड़ी बहुत अकलमन्दी का दावा भी करने लगा था, किन्तु जिन महान् समस्याओं की विवेचना प्रेमचन्द जी ने "प्रेमाश्रम" में की थी उनको उस समय मैं ठीक तौर पर नहीं समझ सका था। सम्भव था कि इन सब कारणों से प्रेमचन्दजी के इस नए उपन्यास के बारे में धारणा वैसी उच्च न रहती जैसी कि "सेवासदन" के बारे में थी, किन्तु यह एक योगायोग की बात है कि "प्रेमाश्रम" पढ़ने के कुछ ही दिनों पहिले एक बार रविबाबू के प्रसिद्ध उपन्यास "गोरा" के अनुवाद को एक बार पूरा पढ़ने का साहस किया था। यद्यपि कई स्थानों में वाद-विवाद समझ में नहीं आए थे, और उनकी प्रश्नावलियाँ तथा उत्तर में दिये गए कारणों की क्रमबद्ध लड़ियों को पढ़ते-पढ़ते जी उकता जाता था, परन्तु एक बार तो अक्षर-अक्षर पढ़ा कि कम से कम दूसरों को तो यह कह सकूँ कि "गोरा" पूरा पढ़ा है। एवं "गोरा" पढ़ने के बाद "प्रेमाश्रम" को पढ़ना उतना श्रमजनक प्रतीत नहीं हुआ। यह भी ख़याल आया कि संसार-प्रसिद्ध साहित्यिक, नोबुल-पुरस्कार विजेता रविबाबू के उपन्यास में जो पाया जाता है वह ठीक ही होगा; ऐसे महान साहित्यकार

की कृतियों में कोई दोष नहीं हो सकते हैं; और जो बात रविबाबू के उपन्यासों में है वही यदि किसी दूसरे के उपन्यास में भी पाई जावे तो वह महत्ता की ही द्योतक होगी। इस प्रकार "प्रेमाश्रम" को एक बार पढ़ कर रख दिया, दूसरी बार पढ़ने का साहस न हुआ और यही समझा कि लेखक एक महान गम्भीर लेखक है जिसकी बातों को पूरा-पूरा समझना एक साधारण पाठक के लिए एक असम्भव बात है। उन वादविवादों को न समझ कर प्रेमचन्दजी की महत्ता तथा उनकी गहन विचारशीलता का अनुभव किया। यह बात स्वीकार करते शर्म आती है, परन्तु यह एक सत्य है कि रविबाबू के "गोरा" और प्रेमचन्दजी के "प्रेमाश्रम" को अब तक मैंने दूसरी बार नहीं पढ़ा है।

× × ×

किंतु जब "रंगभूमि" छप कर निकली तो उसको एक से अधिक बार पढ़े विना नहीं रहा गया। "रंगभूमि" के प्रकाशन से एकबारगी "प्रेमाश्रम" विस्मृति के अंधकार में पड़ गया, और प्रेमचन्दजी की ख्याति "रंगभूमि" से सम्बद्ध हो गई। जिस प्रवृत्ति तथा जिस कला का प्रारम्भ "प्रेमाश्रम" में होता है वही "रंगभूमि" में जाकर पूर्णरूपेण विकसित होती है। पुनः इसी समय हिंदी साहित्य में एक नवीन जाग्रति का प्रारम्भ हो रहा था। "माधुरी" के प्रकाशन के साथ ही हिंदी साहित्य में अद्वितीय स्फूर्ति पैदा हुई, अद्भुत क्रान्ति का प्रारम्भ

हुआ और हिंदी में आधुनिकता का प्रवेश हुआ। बड़े ज़ोर-शोर के साथ "रंगभूमि" का पट खुला और ज्ञात हुआ कि बहुत बड़ी माँग के ख़याल से इसका पहला संस्करण कोई ५००० प्रतियों का छापा गया है। गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित इस ग्रन्थ ने प्रेमचंदजी को एकबारगी हिंदी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास लेखक तथा भारत का एक महान् कलाकार प्रमाणित कर दिया। विशद सर्वव्यापी विज्ञापनों के साथ ही पुस्तक की सुन्दर रचना ने सोने में सुगन्ध का काम दिया। छप कर निकलते ही उसकी प्रति मेरे हाथ लगी और ग़लती न करता हूँ तो सन् १६२५ की गर्मी की छुट्टियों में उसको पढ़ने बैठा। यों ही छुट्टी के दिन थे, गरमी के दिन लम्बे होते ही हैं, फिर भी दिन रात एक की और उन मोटी-मोटी जिल्दों को एक बार समाप्त कर फिर दूसरी बार पढ़ा।

इस बार जब प्रेमचन्दजी अपनी नवीन कृति लेकर आए तब तक उनकी भाषा मँज चुकी थी; भाषा में प्रौढ़त्व आ चुका था; उसका प्रवाह अबाध गति से चलता था, लेखक की अपनी एक विशिष्ट शैली बन चुकी थी। भाषा-शैली-विज्ञों का यह कहना कि प्रेमचन्दजी की प्रारम्भिक कहानियों तथा उपन्यासों की भाषा उखड़ी हुई है प्रेमचन्द के साथ अन्याय करना है। जिस समय प्रेमचन्दजी ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया वह हिन्दी भाषा के लिए एक संधियुग था, तब बड़ी तेज़ी के साथ भाषा में परिवर्तन हो रहे थे, नित नए प्रभावों से हिन्दी प्रभावान्वित हो

रही थी, हिन्दी का क्षेत्र बड़े ज़ोरों से बढ़ रहा था और अपने इस नवीन कर्तव्य को पूरा करने के उपयुक्त बनाने में तब कुछ कठिनाई अवश्य प्रतीत हो रही थी। जैसा कि हिन्दी भाषा का प्रत्येक इतिहासकार स्वीकार करता है, पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी के काल में—जो सरस्वती-युग भी कहा जा सकता है—जो ख़ास बात हुई वह उसकी व्याकरण-सम्बन्धी निर्बलता का परिहार तथा विशिष्ट भाव प्रकाशन या विषय-विवेचन के लिए उपयुक्त शैली का प्रारम्भ। परंतु उस युग में ये विभिन्न शैलियाँ पूर्ण परिपक्व दशा को नहीं पहुँचीं थीं; तब तक उनके निर्माण का प्रारम्भिक युग ही था। हिंदी भाषा भी नए वातावरण तथा युग के अनुकूल मँजी न थी। प्रेमचंदजी उर्दू साहित्य के धुरन्धर लेखक माने जा चुके थे, एवं उनकी शैली को अपरिपक्वता का दोष देना अनुचित है, अपरिपक्व थी तो उनकी भाषा ही। यह बात स्पष्ट है असहयोग के पहिले की हिन्दी में संस्कृत शब्दों का ही बाहुल्य रहता था—विशुद्ध हिन्दी का ही प्राधान्य रहता था, हिन्दी-भाषा ने तब तक अपने द्वार खोले न थे। तत्कालीन प्रवृत्ति हिन्दी-भाषा को उसी संकुचित दायरे में घुमा-फिरा रही थी, भाषा तथा शैली को एक स्वरूप दिया जा चुका था; किन्तु वे अब तक पूरी तरह से खरादे नहीं जा चुके थे।

प्रेमचन्दजी की प्रारम्भिक कृतियों में भाषा का एक अजीब सम्मिश्रण देख पड़ता है, यह सब लेखक की भीरूता के लक्षण नहीं थे, बल्कि भविष्य में आनेवाली नवीन सम्मिश्रित शैली की

सूचना देता था। लेखक उर्दू का एक सिद्धहस्त लेखक था, अतएव जब उन्होंने हिन्दी में लिखना शुरू किया तो हिन्दी की तत्कालीन संस्कृत प्रधान शब्दावली को अपनी शैली में जोड़ने लगा। वह युग उस सम्मिलित भाषा-शैली के उपयुक्त न था, और भाषा भी उसके उपयुक्त न बन पाई थी, और इसी कारण भाषा-शैली-विज्ञों को उसमें अनेकानेक त्रुटियाँ देख पड़ती हैं; परन्तु यह एक नवीन शैली थी जिसको पाठकों ने पसन्द किया, पहिले दिन से यह लोकप्रिय हो गई। कुछ ही सालों में जब हिन्दी भाषा को भारत की राष्ट्रभाषा का आदरणीय स्थान दिया गया तो इस नवीन लोकप्रिय शैली ही ने हिन्दी भाषा के भावी विकास के लिए भावी क्षेत्र की राह दिखाई। अब यह अत्यावश्यक हो गया कि हिन्दी कुछ ही साहित्यिकों या विद्वानों ही की वस्तु न रह कर साधारण जन-समाज की सम्पत्ति बन जावे। सन् १९२१ के आन्दोलन ने हिन्दी की परम्परागत शैली की त्रुटियाँ अधिकाधिक स्पष्ट कर दीं; अब आवश्यकता ऐसी भाषा की जान पड़ने लगी जिसकी सहायता से जनता के साथ साहित्य का लगाव स्थापित किया जा सके। सन् २१ के आन्दोलन की एक प्रधान देन है हिन्दी की हिन्दी-उर्दू मिश्रित शैली का यह चलता स्वरूप। हिन्दी भाषा का क्षेत्र अब संकुचित न रहा और इस नवीन युग के प्रतिनिधि प्रेमचन्दजी थे; इसी कारण इन्होंने इस शैली को अपनाया या यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उन्होंने अनजाने इस शैली को इसके वर्तमान स्वरूप में ढाला।

रंगभूमि की एक बड़ी विशेषता यही है कि इसमें उस शैली विशेष का बहुत-कुछ परिपक्व स्वरूप देखने को मिलता है। ज्यों-ज्यों प्रेमचन्द लिखते गए यह शैली अधिकाधिक परिमार्जित तथा सरल होती गई। विगत सत्रह वर्षों में होनेवाले राजनैतिक आन्दोलनों, परिवर्तनों तथा सांस्कृतिक प्रवाहों का भारतीय संस्कृति, साहित्य तथा विचारशैली पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा है यह एक सोचने और समझने की वस्तु है।

प्रेमचन्दजी में प्रतिभा थी और उसी के फलस्वरूप उन्होंने उर्दू साहित्य में अपना स्थान बना लिया था। जो सफलता उन्हें 'सेवासदन' के लेखक की हैसियत से प्राप्त हुई थी उसे देखते यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में भी उन्हें उच्च स्थान अवश्य प्राप्त हो जाता। किन्तु जो अद्वितीय सफलता उन्हें प्राप्त हुई है, वह प्रधानतया इन्हीं राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रवाहों का परिणाम है; उन्हीं की विवेचना करता हुआ, उनको कार्यरूप में परिणत करता हुआ, वह कलाकार जनसमाज का, उठते हुए भारत तथा विकसित होती हुई हिन्दी का मार्ग-प्रदर्शक एवं उस युग का सच्चा प्रतिनिधि बन गया। अपनी भाषा और शैली द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषियों का नहीं किन्तु उर्दू-भाषा-भाषियों का भी प्रतिनिधि एवं दोनों के साहित्य तथा संस्कृति का उत्तराधिकारी बना।

× × ×

रंगभूमि के गुण-दोषों की विवेचना करने के लिए यह कोई

उपयुक्त स्थान नहीं है, परन्तु यह अत्युक्ति न होगी कि जितना महत्व इस पुस्तक का प्रेमचन्दजी के विरोधियों ने बढ़ाया, उतना शायद उनके समर्थक एवं प्यारे दोस्तों ने भी नहीं समझा। "रंगभूमि" का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य में हड़कम्प के आगम की सूचना थी।

अगले चार बरस प्रेमचन्दजी के उपन्यासों की कड़ी समालोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं के थे। "रंगभूमि" के साथ ही साथ "प्रेमाश्रम" की भी काट-छाँट शुरू हुई और श्रीयुत अवध उपाध्याय ने इन दोनों उपन्यासों के पात्रों के चरित्रों को गणित के सूत्रों में परिणत कर यह साबित करने का प्रयत्न किया कि वे सब युरोपीय उपन्यासों में आए हुए पात्रों के भारतीय संस्करण मात्र हैं। मौलिकता की माँग बहुत ज़ोरों से बढ़ी और इसके नाम पर बहुत धाँधली मची। जोशी-बन्धुओं ने प्रेमचन्दजी की प्रतिभा को अस्वीकार किया था और छोटे भाई इलाचन्द्र ने भी एक लेख लिखा जिसमें प्रेमचन्दजी की कला पर तथा उनके उपन्यासों पर अनेकों आक्षेप किए गए थे। उनके इन दो उपन्यासों को थेकरे को "वेनिटी फ़ेअर" तथा टालसटाय के "रिज़रेक्शन" (पुनर्जन्म) की नक़ल या उन. भारतीय संविधान मात्र बताया गया। परन्तु प्याज के छिलके निकलते गए और इन सबका कोई परिणाम नहीं निकला। कुछ दिनों तक मौलिकता की खोज का बाज़ार गरम रहा, हिन्दी-साहित्य-संसार में धूम-धड़ाका बहुत हुआ। प्रेमचन्दजी के

साथ ही साथ इस समय दूसरे भी कितने ही लेखकों को बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। एक निश्चित परिणाम यह अवश्य हुआ कि प्रेमचन्दजी मंगला-प्रसाद-पारितोषिक न पा सके; इस साल भी उनकी पुस्तकों की कोई क़द्र न हुई। हिन्दी साहित्यिक उस कलाकार की कृतियों के अमरत्व को ठीक-ठीक कूंत न सके; उनकी प्रतिभा, उनकी सेवा और उनके त्याग का ठीक-ठीक आदर न कर सके।

किन्तु इस सारे तूफ़ान ने प्रेमचन्दजी के साहित्यिक जीवन को विशेष प्रभावित नहीं किया। एक बार अवश्य आलोचना की तीव्रता तथा उसकी बढ़ती हुई मात्रा से तिलमिला कर उन सबका उत्तर देने का उन्होंने प्रयत्न किया था, किन्तु साथ ही उपन्यास और गल्प-लेखन का कार्य अबाध गति से चलता ही रहा। "रंगभूमि" के निर्माता अब "काया-कल्प" की सृष्टि करने में लगे थे। इस बार अंग्रेजी भाषा की सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका मेरी कारेली के समान ही उन्होंने भी जीवनातीत विषय पर क़लम चलाई। "कायाकल्प" में उन्होंने वैज्ञानिक भविष्य की कल्पना की और प्रेमचन्दजी ने शायद प्रथम बार पुनर्जन्म की भी चर्चा की। मुंशी वज्रधर के चरित्र का सफलतापूर्वक चित्रण कर उन्होंने औपन्यासिक पात्रों की चित्रशाला में एक और अजर-अमर व्यक्ति समुपस्थित किया। यह उपन्यास अपने ढंग का एक ही है, इसमें लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या तथा ग्राम्य जीवन की पहेली पर बहुत-कुछ प्रकाश डाला है और उनको

सुलझाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है।

और जब यह नया उपन्यास छपकर निकला तब तक प्रेम-चन्द एक महान उपन्यासकार बन चुके थे। "रंगभूमि" को पढ़कर अब "कायाकल्प" के लिए बड़ी ज़ोरों से प्रतीक्षा हुई। प्रकाशित होते ही हाथ लगी और एक साँस में पढ़ गया, परन्तु जहाँ से प्रेमचन्दजी ने पुनर्जन्म की समस्या को लिया वह भाग कुछ रुचा नहीं, वह खण्ड पूरा-पूरा समझ में नहीं आया। मेरी कारेली के भी जो जो उपन्यास पढ़े हैं, उनमें भी जिन-जिन में इस प्रकार के अन्त का प्रयत्न किया है उन उपन्यास के वे भाग कभी भी मुझे पसन्द नहीं आए। यह अपनी-अपनी रुचि है; सम्भव है कि कई पाठकों को यह विशेषतया अत्यधिक रूचे, परन्तु मुझे तो ये कल्पनातीत बातें, उनका आगे रह सकनेवाला स्थायी संबंध ज़रा मुश्किल से समझ में आता है। मृत्यु और पुनर्जन्म की ये अनबूझ पहेलियाँ अभी तक हल नहीं हो पाई हैं, वे दर्शनशास्त्र, साधना और वेदान्त के विषय हैं एवं एक उपन्यासकार का उनको हल करने का प्रयत्न करना कुछ उचित नहीं जान पड़ता, और विशेषतया उस देश में जहाँ इस विषय पर पूर्णतया विभिन्न मत है, जहाँ यह विषय धर्म के अन्तर्गत लिया जाता है और खास-करके जहाँ परलोक की बात सोचते सोचते ही इहलोक को खो बैठे हैं, अनजाने इस लोक को भी नष्ट कर रहे हैं। पुनः यह कहना पूर्णतया ठीक न होगा कि पुनर्जन्म सम्बन्धी बातों की विवेचना करने की प्रवृत्ति युरोपीय लेखकों के प्रभाव का परिणाम थी।

भारतीय साहित्य में भी जातकों की कथाओं में भी इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते हैं और यह सोचना कि प्रेमचन्द जी जातकों के विषय तथा उनकी कहानियों से अनभिज्ञ थे, उनके विषय में बहुत बड़ा अन्याय करना होगा।

इस समय जब कि "रंगभूमि" और कायाकल्प" की सृष्टि हुई और क्रमशः प्रकाशित हुए, उसी समय प्रेमचन्दजी की गल्पों के भी बहुत से नए-नए संग्रह प्रकाशित हुए, प्रेमद्वादशी, प्रेम-प्रतिमा, प्रेमपचीसी और प्रेमप्रमोद क्रमशः निकले। इन सब संग्रहों में प्रेमचन्दजी की अनेकों ऐसी अमर कहानियाँ संग्रहीत हैं, जो उनको संसार के कहानी-साहित्यकारों में बहुत उच्च स्थान प्रदान करेंगी। यह सत्य है कि प्रेमचन्दजी ने अनेकानेक बड़े-बड़े महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे, किन्तु उससे भी अधिक सत्य यह है कि उन्होंने कई कहानियाँ ऐसी लिखी हैं जिनकी टक्कर की कहानियाँ विश्व-साहित्य में भी ढूँढ़े शायद ही मिलें। प्रेमचन्दजी के उपन्यास भारतीय साहित्य की एक अमूल्य वस्तु हैं, यद्यपि वे भी कितने ही स्थानों पर मानवीय हृदय तथा उसके भावों की उन चिरन्तन समस्याओं पर विचार करते हैं जिनकी पूरी विवेचना ही उस कृति को विश्व-साहित्य की वस्तु बना देती है, परन्तु फिर भी प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में इस विवेचना को गौण स्थान प्राप्त है। उनके उपन्यास भारतीय राष्ट्र, समाज तथा संस्कृति को लेकर चलते हैं, उन्हीं की विवेचना करते हैं, उन्हीं को सुलझाने का भी प्रयत्न करते हैं। ये सब समस्याएँ

शताब्दियों से भारत में स्थित रही हैं, बिना सुलझी रही हैं, पुरानी होते हुए भी, ये भारत की अपनी ही वस्तु है। एवं प्रेमचन्दजी के उपन्यास विश्व-साहित्य की वस्तु नहीं बन सकते, कम से कम मेरा तो यही मत है। किन्तु इसके विपरीत प्रेमचन्दजी की कहानियाँ विश्व-साहित्य की एक स्थायी सम्पत्ति रहेंगी। स्थान विशेष की विशेषताओं को छोड़ते हुए वे उन्हीं बातों की विवेचना करती हैं जो प्राय: समस्त संसार में एक सी हैं। विश्व-वेदना का स्वर उनमें विद्यमान है। भविष्य में जब विश्व-साहित्य में प्रेमचन्दजी का स्थान निश्चित किया जावेगा तब केवल इन्हीं महान् अमर कहानियों के ही आधार पर होगा। आज एक बहुत बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि प्रेमचन्द जी की सैकड़ों कहानियों में उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों का एक विशद संग्रह प्रकाशित किया जावे और संग्रह के प्रारम्भ में हो प्रेमचन्दजी की कहानी-लेखन-कला की एक विस्तृत आलोचना। आज वह कलाकार मृत्यु के कराल गाल में जा चुका है, उसका भौतिक शरीर नष्ट हो गया, परन्तु उसकी अमर आत्मा आज भी उसकी कृतियों में विद्यमान है, परन्तु उसकी वे अनमोल रचनाएँ आज यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं; उनको चुन-चुन कर ठीक सजाए बिना उस कलाकार की पूर्ण प्रतिभा का समूचा स्वरूप देखने को नहीं मिलेगा। और अगर कल इसके अभाव से प्रेमचन्दजी को विश्वसाहित्य में उचित स्थान नहीं दिया गया तो यह प्रेमचन्दजी के लिए नहीं किन्तु हिन्दी-भाषा-भाषियों के

लिए बड़ी लज्जाजनक बात होगी, उस कलाकार का अनादर राष्ट्र-भाषा का अनादर होगा और अगर हमारी सुस्ती या उदासीनता के कारण हमारे राष्ट्र और साहित्य को इस अनादर का सामना करना पड़ा तो हम किस तरह संसार को अपना मुँह दिखाएँगे ?

× × ×

"कायकल्प" को लिख चुकने के बाद प्रेमचन्दजी ने कुछ वर्षों तक कोई उपन्यास हाथ में नहीं लिया। वे शायद कुछ सुस्त रहे थे। तीन बृहद् राजनैतिक उपन्यास लिख चुकने के बाद अब वे पुनः सामाजिक प्रश्नों की ओर झुके। सन् २१ का राजनैतिक आन्दोलन समाप्त हो चुका था, इस समय राजनैतिक वातावरण में एक प्रकार का सन्नाटा-सा छाया हुआ था; एवं राजनैतिक प्रश्नों पर प्रेमचन्दजी कोई नवीन स्फूर्ति न पा सके। इन अगले २-३ वर्षों में उन्होंने दो छोटे-छोटे सामाजिक उपन्यास लिखे जो एक के बाद दूसरा यों क्रमशः "चाँद" में प्रकाशित हुए। पहला उपन्यास "निर्मला" था जो "चाँद" में पूरा छपते ही चाँद-प्रेस द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया गया था। यद्यपि यह किसी भी प्रकार "सेवासदन" की समता नहीं कर सकता था, अपने संकुचित क्षेत्र में यह उपन्यास बहुत ही करुणापूर्ण ढंग से समाज की कुरीतियों के दुष्परिणामों की विवेचना करता है।

दूसरा छोटा उपन्यास था—"प्रतिज्ञा"। यद्यपि यह ग्रन्थ

कुछ पहिले "चाँद" में क्रमशः करके पूरा छप गया किन्तु जब तक सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी द्वारा पुस्तकाकार नहीं छापा गया मैं उसे नहीं पढ़ पाया। मेरी कुछ ऐसी बुरी आदत है कि एक बार कहीं कोई पुस्तक पढ़ना आरम्भ कर दी तो उसको समाप्त करने की उतावली लग जाती है, और मासिक पत्रों में क्रमशः निकलनेवाले उपन्यासों के विभिन्न भागों के पढ़ने में जो महीनों की देरी होती है, वह सहन नहीं होती है, उतने काल तक बाट देखना एक असम्भव बात है। पुनः उस महीने भर में बहुत कुछ पुराना भाग भी भूला जा चुका होता है, कथा के पुराने सूत्र ही अस्तव्यस्त हो जाते हैं, पढ़ने में भी बिलकुल मज़ा नहीं आता है, एवं जब तक या तो सारा उपन्यास नहीं छप जाता है या उसको पुस्तकाकार में छपा न देख पाऊँ ऐसे उपन्यास नहीं पढ़ सकता। एकाध बार प्रयत्न भी किया किन्तु एकाध मास से ज्यादा पढ़ न सका। एवं पुस्तकाकार "प्रतिज्ञा" को पढ़ने बैठा। कुछ प्रारम्भिक अध्याय पढ़ गया और प्रत्येक पृष्ठ के साथ ही यह भावना दृढ़तर होती गई कि ऐसा का ऐसा ही प्लाट तथा इसी प्रकार की विचारशैली किसी दूसरे उपन्यास में भी पढ़ी है। एकाएक ध्यान आया कि शायद "प्रेमा" नामक एक उपन्यास से ही "प्रतिज्ञा" के प्लाट का साम्य है। "प्रेमा" को शायद सन १९२०-२१ में पढ़ा था; उसकी थोड़ी-थोड़ी सी स्मृति बाक़ी थी। परन्तु जब पुस्तक ढूँढ़ने बैठा तो वह न मिली। अवश्य ही वह किसी उपन्यास-प्रेमी द्वारा पठनार्थ माँगा जाकर कभी भी नहीं

लौटाई गई थी; या तो वे स्वयं उसको दबा बैठे थे या अपने ऐसे ही किसी अनन्य प्रेमी मित्र को देकर बाद में याद रख कर उसे माँगने का कष्ट न उठा कर उसे लौटाने की वृथा चिन्ता को अपने मस्तिष्क में घुसने नहीं दिया था। ख़ैर! "प्रतिज्ञा" को पढ़ता जाता था और मेरी समस्या अधिकाधिक विकट होती जाती थी। इतना स्मरण था कि "प्रेमा" लेखक प्रेमचन्दजी न थे, कम से कम इस नाम से उन्होंने वह पुस्तक प्रकाशित न की थी। एवं उस समय जब कि मौलिकता की माँग बड़े ज़ोरों से बढ़ रही थी, जब प्रेमचन्दजी पर साहित्यिक डाकों या चोरियों के अनेकों अभियोग लग चुके थे, स्वभावतः मुझे भी यह सन्देह होने लगा कि कहीं "प्रतिज्ञा" लिखने में प्रेमचन्दजी सचमुच ऐसी चोरी तो नहीं कर बैठे। "प्रेमा" की प्रति नहीं मिल रही थी, और मेरी शंकाएँ अधिकाधिक ज़ोर पकड़ती जाती थीं। एवं जब यह विश्वास हो गया कि "प्रेमा" की प्रति न मिलेगी तब तो दिल की बेचैनी बढ़ने लगी; और अन्त में जब रहा न गया तो प्रेमचन्दजी को एक लम्बा ख़त लिखा। ख़त में "प्रेमा" के कथानक से साम्य का उल्लेख करके उनसे यह पूछा कि आख़िर यह सारा मामला क्या है। प्रेमचन्दजी ने जल्द ही उस ख़त का उत्तर दे दिया; उनका उत्तर संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट था। वह पत्र मेरे सामने नहीं है (वह सुरक्षित अवश्य रखा हुआ है), फिर भी प्रेमचन्द के उत्तर को भूला नहीं हूँ। उन्होंने लिखा था कि "प्रेमा" भी उन्हीं की कृति थी, और जब वह छपी थी उस

समय उन्होंने दूसरा कोई नाम दिया था। लिखते-लिखते वे लिख बैठे कि जब "प्रेमा" लिखी थी तब जवानी का जोश था; कुछ कर गुज़रने की उमंग थी, विधवा-विवाह और समाज सुधार के प्रचार की पूरी-पूरी इच्छा थी, और उसी कारण उसमें उन्हीं भावनाओं के फलस्वरूप कथानक बन गया था, किन्तु बाद में अनुभव एवं अवस्था के बढ़ने के साथ वह जोश ठण्डा हो चला था, वे भावनाएं एकांगी न रह गई थीं और अब उनमें वह तीव्रता न रही थी। "प्रतिज्ञा" के कथानक को इन्हीं भावनाओं के अनुकूल तथा नवीन भावनाओं तथा विश्वासों के फलस्वरूप परिवर्तित कर दिया था। सन् १६०५ के प्रेमचन्दजी और सन् १६२७-२८ के प्रेमचन्दजी में क्या क्या परिवर्तन हुए हैं यह जानने को "प्रेमा" के साथ "प्रतिज्ञा" की तुलना करने की इच्छा हुई। अपनी "प्रेमा" के प्रति मैं खो चुका था, और उसकी प्रतियाँ अब अप्राप्य हो गई थी। सम्भवं है कि हिन्दी पुस्तकालयों में खोज की जावे तो प्रेमा की एकाधि प्रति मिल जावे परन्तु अब तक मैंने इसका कष्ट नहीं उठाया। प्रेमचन्दजी के उपरोक्त पत्र को पाकर सन्तोष हुआ, परन्तु साथ ही एक तीव्र ग्लानि भी हुई। उस महान कलाकार के लिए ऐसे सन्देहों को हृदय में स्थान देकर उनके प्रति अनजाने जो पाप किया था, उसका प्रायश्चित मैं अब तक नहीं कर सका, किस प्रकार उस पाप का प्रायश्चित हो सकेगा, यह प्रश्न मैं अब तक हल नहीं कर सका हूँ।

× × ×

इधर जब ये उपन्यास प्रकाशित हो रहे थे तब आपसी झगड़े के फलस्वरूप, "माधुरी" के आदि सम्पादक-द्वय, हिन्दी के मासिक साहित्य में क्रान्ति करने वाले, श्रीयुत दुलारेलालजी भार्गव और पं० रूपनारायणजी पाण्डेय ने "माधुरी" को छोड़ कर हिन्दी साहित्य को "सुधा" पिलाने की सोची। "माधुरी" अब दूसरे सम्पादकों के हाथ में जाने वाली थी। इसी परिवर्तन-युग में सीतामऊ के हाईस्कूल के हिन्दी-अध्यापक बनवारीलाल जी 'विशारद' ने "माधुरी" को एक लेख भेजा था। उस लेख की स्वीकृति में जो चिट्ठी आई उस पर किसी "धनपत-राय" नामक सज्जन ने "माधुरी" सम्पादक की हैसियत से हस्ताक्षर किए थे। यह ज्ञात हो चुका है कि "माधुरी" के सम्पादकों की बदली हो रही है, परन्तु भविष्य में कौन साहित्यिक "माधुरी" का भार उठाएंगे यह मालूम न हुआ था। एवं "धन-पतराय" जैसे अज्ञात नाम को "माधुरी" के सम्पादकत्व से सम्बद्ध देख कर हम सब चकराए, खूब चकराए। यह नवीन साहित्यिक एकाएक कहाँ से आ टपका? अब तक उसका नाम भी तो कहीं पढ़ा या सुना न था, एकाएक उसे कैसे "माधुरी" का सम्पादक बना दिया। उस समय आजकल की तरह अंग्रेजी अख़बारों में न तो हिन्दी साहित्य की कोई ख़बर छपती थी और न हिन्दी साहित्यिकों की ही; हिन्दी दैनिक और साप्ताहिकों में भी कहीं भूले भटके कोई समाचार छप जाता था; एवं जब तक "माधुरी" का नया अंक नहीं आया यह ज्ञात नहीं हुआ कि कौन

महानुभाव "माधुरी" के नए सम्पादक बनाए गए हैं। हाँ, उस पत्र द्वारा किसी "धनपतराय" के सम्पादक बनने की अनोखी खबर का बड़ा महत्व बना रहा, किन्तु ज्योंही माधुरी का नया अंक आया हम लोगों की दिल्लगी शुरू होगई। श्रीयुत कृष्णबिहारी मिश्र और श्रीयुत मुंशी प्रेमचन्दजी का नाम सम्पादकों के स्थान पर छपा था, "धनपतराय" का नाम नदारद था। उस समय तो यह सोचकर मन समझा लिया कि "धनपतराय" नामक व्यक्ति माधुरी के कार्यालय में ही निम्नश्रेणी के कर्मचारी होंगे जो नए सम्पादकों की नियुक्ति तक स्थानापन्न सम्पादक रहे। कई बरसों के बाद ज्ञात हुआ कि "धनपतराय" तो प्रेमचन्दजी का ही असली नाम है, और यों उस लेख की स्वीकृति पर हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक प्रेमचन्दजी ने ही हस्ताक्षर किये थे। हमारे महान् साहित्यिकों के निजी जीवन के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान कितना बढ़ा हुआ है? जिनकी आत्मा को हम उनकी कृतियों में स्पष्टरूपेण देख सकते हैं, जिनके भावों को उनकी भाषा और लिखी हुई पंक्तियों में बिखरा पाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों के भौतिक स्वरूप तथा उनके भौतिक जीवन के सम्बन्ध में कितना अज्ञान रहने दिया जाता है या यों कहिए कि कितनी उपेक्षा, उदासीनता दिखाई जाती है, इसका इससे अधिक स्पष्ट दूसरा उदाहरण नहीं मिलेगा। किस प्रकार कविरत्न सत्य-नारायणजी को हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पण्डाल में जाने के लिए कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं वह ऐसी ही उदासीनता का दूसरा

उदाहरण था। जिस लेखक की एक-एक कृति को ढूँढ़ते हैं, उनके नाम याद करते हैं, जिनके प्रधान पात्रों के चरित्रों का ध्यान-पूर्वक अध्ययन किया उन्हीं उपन्यासों के लेखक, उन्हीं अजर-अमर पात्रों के सृष्टा प्रेमचन्दजी के बारे में इतनी सी बात भी हम न जान पाए कि उनका असली नाम दूसरा ही कोई है, प्रेमचन्द नहीं। प्रेमचन्दजी की सूरत से भी तो हिन्दी साहित्यिक पहिली बार तब परिचित हुए जब उनकी एक धुँधली-सी तस्वीर "रंगभूमि" में प्रकाशित हुई थी।

और इन्हीं दिनों जब प्रेमचन्दजी "माधुरी" का सम्पादकत्व कर रहे थे तब जो मनोरंजक घटना घटी थी उसको याद कर आज भी पेट में बल पड़ जाते हैं। गम्भीर सामाजिक, राजनैतिक या सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार करनेवाले, विश्ववेदना की करुणा-ध्वनि गुँजानेवाले प्रेमचन्दजी जी भर कर हँसाते भी थे। सं० १९८४ (सन १९२७-२८ ई०) के पौष मास की "माधुरी" में उन्होंने "मोटेराम शास्त्री" नामक एक हास्यरस-पूर्ण कहानी लिखी थी। उस कहानी को लेकर जो मुकद्दमेबाज़ी लखनऊ में हुई वह एक खेदजनक बात थी, परन्तु उसी समय जब "मोटे-राम शास्त्री" शीर्षक उस कहानी की मुद्रित प्रति-लिपियाँ एक-एक पैसे में लखनऊ में बिकी और जब उस सुरम्य नगरी के चौराहों पर अख़बार बेचनेवाले छोकरों ने "मोटेराम शास्त्री एक पैसे में, एक पैसे में" की आवाज़ें लगाईं तब तो हज़ारों प्रतियाँ जिस तेज़ी के साथ बिक गईं कि उसको याद कर आज

भी अच्छे-अच्छे प्रकाशकों के मुँह में पानी आ जाता है।

प्रेमचन्दजी ने हास्यरस-पूर्ण कहानियाँ अनेकों लिखीं हैं और जहाँ तक स्मरण होता है "मोटेराम शास्त्री' को लेकर ही कुछ गल्पों की सृष्टि हुई थी। ऐसी कहानियाँ लिखने में वे कमाल करते थे और उनके प्रशंसक उनकी हास्यरस-पूर्ण कहानियों का एक अलग संग्रह देखा चाहते हैं। "मोटेराम शास्त्री" नाम से ही तत्सम्बन्धी गल्पों का एक छोटा संग्रह बन सकता है।

प्रेमचन्दजी स्वयं जी खोल कर हँसते थे और अपने साथियों को भी उसी प्रकार हँसाते थे। उनके कहकहे अभी उनके साथियों को भूले नहीं हैं। अगर उनकी कोई कृतियाँ उनके पाठकों को हँसा सकेंगी, कुछ काल के लिए उन्हें उनके दुख-दर्द भुलाने में सहायक होंगी तो अवश्य उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी। प्रेमचन्दजी के जीवन के इस पहलू की पूरी-पूरी विवेचना होनी चाहिए; इस पर प्रकाश पड़े बिना उस कलाकार का पूरा व्यक्तित्व समझ में नहीं आ सकेगा। क्योंकर मनुष्य कठिनाई पर कठिनाई सहता चला जाता है, हँस कर उसका भार उठा लेता है, और अपने जीवन और जीवन की नवलता को बनाए रख सकता है; किस प्रकार वह हँस कर भयंकर से भयंकर परिस्थिति में भी नवीन स्फूर्ति का आह्वान कर सकता है, यह भारत के भावी साहित्यिकों के सोचने और समझने की बात है। यह एक खुला हुआ भेद है कि प्रेमचन्दजी ने जीवन भर कभी भी आर्थिक दृष्टि से पूरा-पूरा सुख नहीं देखा, और जो कुछ कमाया वह उसी लेखनी की बदौलत, एवं

वह भी उसी हिन्दी-साहित्य-देवता के चरणों में उन्होंने अर्पण कर दिया। परन्तु कहकहों के साथ ही उनके आर्थिक ताप की मात्रा घट जाती थी और वह कलाकार एक बार फिर स्फूर्ति पाकर कोई नई कहानी या उपन्यास लिखने में लग जाता था।

× × ×

किन्तु "माधुरी" के सम्पादकत्व ने प्रेमचन्दजी की साहित्य-सेवा में किसी भी प्रकार की बाधा न डाली। उनकी कहानियों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही थी; "अग्नि-समाधि", "पाँच फूल", "प्रेमतीर्थ" आदि नए-नए गल्प-संग्रह निकल रहे थे। "प्रेमद्वादशी" विश्वविद्यालयों में हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करने वालों के लिए मनन करने की सामग्री बन गई। प्रेमचन्दजी हिन्दी के सर्व-श्रेष्ठ उपन्यासकार माने जा चुके थे। विभिन्न लेखकों के जो-जो गल्प-संग्रह निकल रहे थे, उन सब में उनको सर्वोच्च स्थान दिया जाने लगा था। परन्तु इसी समय सन् १९३०-३१ का वह युग आया जब एक बार फिर भारतव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन उठा; भारतवर्ष में फिर राष्ट्रीय भावों का प्रवाह उमड़ पड़ा। प्रेमचन्दजी इस समय "हंस" नामक एक गल्प-प्रधान साहित्यिक हिन्दी मासिक निकाल रहे थे। प्रेमचन्दजी स्वयं असहयोगी थे, राष्ट्रीयता उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे अब 'हंस' में राजनैतिक कहानियाँ लिखने लगे जिनमें आन्दोलन सम्बन्धी भावनाओं या घटनाओं को कहानियों के कथानक से स्वरूप में बुन दिया था। इन राजनैतिक कहानियों का एक संग्रह "समरयात्रा" के नाम से प्रकाशित भी

हुआ था और शायद बाद में वह ज़ब्त हो गया। प्रेमचन्दजी अधिकाधिक तीव्र होते जा रहे थे, "हंस" की सम्पादकीय टिप्पणियों से बहुत रोष टपकता था। राजनैतिक कारणों से ही "हंस" को कुछ मास तक विश्राम भी लेना पड़ा था। प्रेमचन्द के राजनैतिक उग्र विचार अन्त तक नरम नहीं हो पाए।

इसी काल में वे "माधुरी" से भी छुट्टी पा चुके थे; "हंस" भी विश्राम ले रहा था; प्रेमचन्दजी स्वयं कुछ काल के लिये सिनेमा की ओर झुक गए; "सेवासदन" की फिल्म बनने जा रही थी, दूसरी फिल्मों का भी कथानक लिखने का उन्होंने वादा किया था। सिनेमा-संसार में उन्हें विशेष सफलता नहीं हुई और वे शीघ्र ही लौट आए; "सेवासदन" की फिल्म निकली, एकाध दूसरी फिल्म बनवाकर उन्होंने काशी का रास्ता नापा। किन्तु बम्बई जाने से पहिले ही वे एक नया सामाजिक उपन्यास "ग़बन" प्रेस में दे गए थे। "ग़बन" का विज्ञापन देखकर एक प्रति भेजने के लिए लिख दिया था। "ग़बन" को पाते ही पूरा पढ़ा और इस बार उसका पूरे ध्यान से अध्ययन भी किया। इस समय तक मैंने अन्य देशीय साहित्यिकों के कुछ ख़ास-ख़ास अच्छे-अच्छे उपन्यासों का, उनकी कला तथा विचार-शैली का थोड़ा बहुत अध्ययन कर लिया था, कुछ-कुछ ज्ञान भी प्राप्त कर चुका था। एवं ग़बन को समालोचक की दृष्टि से पढ़ा और उसी दृष्टिकोण से उस पर विचार किया। कहा जाता है कि इस उपन्यास का आधार प्रेमचन्दजी के ही एक पुराने "कृष्णा" नामक उर्दू उपन्यास

का कथानक है। मैंने कभी उर्दू नहीं पढ़ी एवं प्रेमचन्दजी की उर्दू कृतियों से बिलकुल अपरिचित हूँ। किन्तु "ग़बन" आज जिस स्वरूप में मेरे सन्मुख है उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि यह एक सुन्दर कृति है। इसके प्रारम्भिक भाग में मानवीय भावों तथा मनोवैज्ञानिक संघर्ष का बहुत ही अच्छा चित्र खींचा गया है। अन्तिम भाग में यह उपन्यास घटना-प्रधान हो गया है।

उस महान् राजनैतिक आन्दोलन के युग में उस महान कलाकार की लेखनी से एक सामाजिक उपन्यास की ही सृष्टि होना एक आश्चर्यजनक बात थी। परन्तु जब एक बरस बाद उनका अन्तिम राजनैतिक उपन्यास "कर्मभूमि" पाठकों के सामने आया, तब ज्ञात हुआ कि भारत का युग-प्रतिनिधि राजनीति को पूर्णतया भुलाए न था। "कर्मभूमि" में प्रधानतया सन् १९३०-३१ के राजनैतिक आन्दोलनों का विवरण है। यद्यपि घटनाएँ, कथानक व पात्र सब काल्पनिक ही हैं, किन्तु उसमें बहनेवाली विचार-धारा, पात्रों की कार्यशैली, उनकी नीति तथा सारे उपन्यास की बैक-ग्राउण्ड सन् १९३१ के आन्दोलन की है, इस विषय में कभी भी दो मत नहीं हो सकते। हरिजन आन्दोलन की भी विवेचना इस उपन्यास में हो गई है। अपने ढंग का यह एक ही उपन्यास है; इसकी ठीक महत्ता आज हम जान नहीं सकते, भविष्य में ही इसका ठीक-ठीक निश्चय हो सकेगा। यह उपन्यास बहुत ही रोचक हो गया है और घटनाओं का प्राधान्य होते हुए भी इसमें पात्रों का व्यक्तित्व तथा उनकी मनोवैज्ञानिक

विवेचना को किसी भी प्रकार गौण स्थान नहीं मिला है। "रंगभूमि" का लेखक ही "कर्मभूमि" की सृष्टि कर सकता था, किसी दूसरे के बूते की यह बात न थी।

इसी समय प्रेमचन्दजी का अन्तिम नाटक या प्रहसन "प्रेम की वेदी पर" निकला। इसी के साथ ही प्रेमचन्दजी के पहिले दो नाटकों का भी उल्लेख किया जा सकता है। "कर्बला" और "संग्राम" नामक दो नाटक बहुत पहिले निकल चुके थे। संग्राम सन् १९२२ में छपा था और उसका प्लाट सामाजिक था। कर्बला एक-दो साल बाद निकला और उसके कथानक का आधार मुसलमानों के इतिहास का वह चिर-प्रसिद्ध युद्ध तथा तत्परिणाम-स्वरूप होनेवाली वह अतीव हृदयद्रावक घटना थी, जिसको यादकर आज भी सब मुसलमान प्रति वर्ष उसासें भरते हैं। परन्तु नाटककार के स्वरूप में प्रेमचन्दजी को उपन्यास-लेखक की सी सफलता नहीं मिली। वे स्वयं अपनी त्रुटि को जानते थे, एवं उन्होंने इस ओर विशेष प्रयत्न नहीं किया। "प्रेम की वेदी पर" एक छोटा सा नाटक या एक प्रकार से प्रसहन मात्र है। उसे पढ़ कर तो मैं ख़ूब हँसा, जी भर कर हँसा; शायद राजनैतिक या सामाजिक समस्याओं को सुलझाते-सुलझाते प्रेमचन्दजी को भी दिल-बहलाव की सूझी थी, और उसी उद्देश्य से उन्होंने यह प्रहसन लिखा था।

× × ×

प्रेमचन्दजी की इतनी कृतियाँ पढ़कर, उनकी आत्मा से

इतनी घनिष्ठता स्थापित कर उनसे मिलने को कौन उत्सुक न होगा। कोई सन् १९३० की बात है जब मुझे भी हिन्दी के गल्प-साहित्य का अध्ययन करने की सूझी थी, और उसी सम्बन्ध में अनेकानेक प्रतिष्ठित लेखकों से पत्र-व्यवहार भी किया था। उस समय मैंने सोची कि एक बृहद् गल्प-संग्रह प्रकाशित करूँ, जिसमें प्रारम्भ में हिन्दी-गल्प-साहित्य का इतिहास हो, उसके विभिन्न स्कूलों की पूरी-पूरी विवेचना हो, उनके गुण-दोषों का पूर्ण उल्लेख हो। तदनन्तर एक-एक लेखक को लेकर उसका संक्षिप्त परिचय लिखा जावे, जिसमें उस लेखक की जीवनी के साथ ही साथ उसके गल्प-लेखन से सम्बद्ध अनेकानेक छोटी-छोटी परन्तु ख़ास निजी बातें लिखी जावें। किस प्रकार लेखक ने अपनी पहली कहानी लिखी? किन-किन दूसरे लेखकों का उस पर प्रभाव पड़ा और किस प्रकार यह प्रभाव पड़ा? वह लेखक किस-किस गल्प को अपनी अच्छी कृति समझता है? आदि बातों की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर उनको मनोरंजक ढंग से लिखा जावे और यों लेखक के व्यक्तित्व तथा उसकी विचार-शैली से घनिष्ठता स्थापित की जावे; इस प्रकार बैक-ग्राउण्ड तैयार कर उस लेखक की कुछ चुनी हुई अच्छी-अच्छी गल्पें दी जावें। गल्पों का चुनाव इस दृष्टि से किया जावे कि लेखक की लेखन-शैली, उसके वर्णन के प्रधान विषयों तथा उनके विभिन्न पहलुओं का पूरा-पूरा दृश्य पाठक को देखने को मिल सके। इसी पुस्तक के सम्बन्ध

में मैंने प्रेमचन्दजी को भी एक लम्बा ख़त लिखा था। उसकी प्राप्ति स्वीकार करते हुए उन्होंने बाद में सुविधानुसार पूर्ण विस्तार के साथ उसका उत्तर देने का वादा किया था। सुस्ती के फलस्वरूप तथा अन्य दूसरे कारणों से न बाद में मैं उन्हें उस उत्तर के लिए याद दिला सका और न उन्हें ही ख़ुद याद आई। खेद है कि आज तक भी मैं उस पुस्तक को तैयार करने में बिलकुल प्रयत्नशील नहीं हो सका हूँ। अगर निकट भविष्य में कभी उसको हाथ में लूँ भी तो पहिला सवाल यही आवेगा कि प्रेमचन्दजी सम्बन्धी साहित्य क्योंकर और कहाँ से एकत्रित किया जावे। ऐसे महान् कलाकार का परिचय अधूरा रहना हिंदी साहित्यिकों के लिये एक बड़ी ही लज्जाजनक बात होगी।

यों पत्र द्वारा थोड़ा-सा नैकट्य स्थापित करके मैं उनको प्रत्यक्ष रूप में देखने के लिये अत्यधिक उत्सुक हो गया। इन्दौर में होने-वाले २४वें अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में उनके सम्मिलित होने की ख़बर सुनकर बहुत ख़ुशी हुई; मैं उस सम्मेलन में सम्मिलित होने जा रहा था, और यों उनसे मिलने की पूरी आशा थी, किंतु जल्द ही यह ख़बर सुन कर कि प्रेमचन्दजी इन्दौर न आवेंगे सारी ख़ुशी ग़ायब हो गई, और अन्य किसी स्थान में उनसे मिलने कि आशा लगाए रहा। एक महीने के बाद ही सरगूजा से लौटते वक्त जब एक दिन के लिए बनारस चला गया था तब भी वहाँ उनसे मिलने का संयोग न हो पाया। मई महीने की उस भरी दोपहरी में जब श्रीयुत राय कृष्णदास जी को विश्राम लेने

न दिया, तथा जब कविवर 'प्रसाद' जी को अपनी कुछ कविताएँ सुनाने के लिए बाध्य किया तब तो प्रेमचन्दजी से भी मिलने को जी ललचाया, परन्तु वे वहाँ न थे, अपने गाँव गये हुए थे और एकाध सप्ताह के बाद ही लौटने का उनका प्रोग्राम था। यों काशी पहुँच कर भी मेरी इच्छा पूरी न हो सकी; विधि का विधान ऐसा ही था कि यह इच्छा अतृप्त ही रह जावे। मैं भविष्य के लिए बड़ी बड़ी आशाएँ लेकर काशी से रवाना हुआ था; सोचा था कि कभी न कभी यह संयोग आवेगा ही, परन्तु वे सब इच्छाएँ मन की मन में ही रह गईं। उस महान् कलाकार के व्यक्तित्व को एक बार भी न देख सकने का खेद मुझे जीवन भर रहेगा।

× × ×

इन्दौर का वह सम्मेलन बड़े ज़ोरों शोरों के साथ हुआ, परन्तु वह हिन्दी जन-समाज के सम्मुख एक बड़ी समस्या छोड़ गया। दूसरी बार महात्मा गांधी ने उस संस्था के अधिवेशन का सभापतित्व ग्रहण किया था और इस बार सम्मेलन ने हिन्दी-साहित्य को भारतीय साहित्य में परिणत करने की सोची। राष्ट्रभाषा का साहित्य राष्ट्रीय साहित्य हो। जिस साहित्य में समस्त राष्ट्र की विभिन्न भावनाएँ, प्रगतियाँ तथा संस्कृतियों का सम्मिलन हो, ऐसे सर्वांगपूर्ण साहित्य के बिना कोई भाषा राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती, कम से कम उसका वह पद कभी अधिक काल के लिये स्थायी नहीं रह सकता है। परन्तु हिन्दी के साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य बनाने में अनेकों बड़ी बाधाएँ हैं, और इन्दौर के इस २४वें

अधिवेशन में सम्मेलन ने प्रथम बार उन बाधाओं को हटाने तथा उन विकट समस्याओं को हल करने की सोची। हिन्दी भाषा के इतिहास में इन्दौर के दोनों सम्मेलन बड़े ही महत्व के हैं, दोनों ही उस भाषा के विकास, तथा बढ़ते हुए महत्व की विशिष्ट अवस्थाएँ अंकित करते हैं; दोनों में और विशेषतया इस पिछले सम्मेलन में किए गये निश्चयों का भारतीय संस्कृति और साहित्य के भविष्य पर कितना गहरा प्रभाव पड़ेगा इसका आज पूरा-पूरा अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता है। हिंदी राष्ट्रभाषा होने जा रही है एवं उसके भविष्य के साथ ही भारतीय संस्कृति का भविष्य बँध गया है। जहाँ इससे हिंदी भाषा एवं साथ ही तद्भाषा-भाषियों का महत्व तथा गौरव बहुत बढ़ गया है, वहीं उन सबकी ज़िम्मेवारियाँ भी बढ़ती चली जा रही हैं। यह निश्चित है कि राष्ट्र-भाषा के स्वरूप में हिंदी अब केवल सूबा-हिंदी या हिंदी भाषा-भाषी प्रान्तों तक की संस्कृति की ही प्रतिनिधि न रह सकेगी; उसमें अब भारत के समस्त विभिन्न प्रान्तों की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का सम्मेलन होना अत्यावश्यक हो गया है। यों राष्ट्र-भाषा बन कर आज हिंदी अपनी आन्तरिक एकता तथा अपनी सांस्कृतिक शुद्धता खो बैठी है। अब हिंदी भाषा केवल एक साहित्यिक, सामाजिक, प्रान्तीय या किसी विशिष्ट जनसमाज की रुचि या विरोध का ही विषय न रह गई है, किन्तु वह एक राष्ट्रीय समस्या बन गई है।

हिंदी भाषा अब राष्ट्र-भाषा बनने जा रही है और इसी कारण उसे अब सारे राष्ट्र के उपयुक्त बनना होगा; किन्तु इस कठोर

राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सत्य को हिंदी साहित्यिकों ने अब तक पूर्णरूपेण नहीं समझा है। वे अभी तक इस भाषा को अपने ही प्रान्तीय तथा तदनुरूप संकुचित क्षेत्र के अनुकूल बनाए रखना चाहते हैं; वे केवल राष्ट्र-भाषा के साहित्यिक बनने का गौरव प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु उसके फलस्वरूप उनसे चाहे गए त्याग तथा परिश्रम का भार उठाने के लिए हैं वे तैयार नहीं है। हिंदी का जो स्वरूप राष्ट्र-भाषा बनने जा रहा है, जो समस्त भारत को सर्वमान्य होगा उसे यदि हिंदी साहित्यिक हिंदी स्वीकार न करें यदि वे उससे ही विभिन्न अपनी ही तूती बजावेंगे तो यह निश्चित समझना चाहिए कि उस प्रान्तीय हिंदी का भविष्य बिलकुल उज्ज्वल नहीं है। खड़ी बोली के सामने ब्रजभाषा की जो दशा हुई, वही दशा राष्ट्रीय हिंदी के सम्मुख इस प्रान्तीय हिंदी की भी होगी। भाषा वही जीवित रह सकती है जो जन-समाज द्वारा अंगीकृत की जावे और जिसके द्वारा जनसमाज के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सके; इस सम्बन्ध-विच्छेद के साथ ही उस भाषा की मृत्यु भी अवश्यम्भावी हो जाती है।

प्रेमचन्दजी राष्ट्रीय हिंदी की इस महान समस्या को समझते थे, उसकी महत्ता का अनुभव करते थे और जानते थे कि ऐसे युग में हठधर्मी से काम न चलेगा। अधिक युक्तिसंगत तो यह बात होगी कि जो नवीन प्रगतियाँ आज हिंदी भाषा में उठ रही हैं, उनमें भाग लेकर उनको सुचारू रूप से नियंत्रित कर उनको ठीक राह पर लगावें, और यों भाषा और भारत के भविष्य के

लिए अपनी हठधर्मी को त्याग दें। इसी कारण जब इन्दौर के २४वें सम्मेलन के बाद भारतीय-साहित्य-परिषद् की नींव पड़ी तो उन्होंने उसमें पूरा-पूरा भाग लिया और जब उस संस्था को एक मासिक पत्र की आवश्यकता हुई तो वे अपना प्यारा "हंस" देने से नहीं हिचके। उन नवीन प्रगति को उपयुक्त स्वरूप देने तथा भारतीय साहित्य की एकता की उठती हुई भावना को स्थायी स्वरूप प्रदान करने में प्रेमचन्दजी का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों की एकता का जो स्वरूप हमें प्रेमचन्दजी की भाषा तथा उनके विचारों में मिलता है, वही सांस्कृतिक एकता धीरे-धीरे फैलकर आज समस्त भारत को अपने अंचल में समेट लेने को चली है। यद्यपि इन पिछले दिनों में बीमारी के कारण प्रेमचन्दजी अधिक काम न कर सके, परन्तु आज जो नया वृक्ष बढ़ रहा है, उसका बीज प्रेमचन्दजी की शैली, उनकी भावनाओं तथा उनकी कृतियों में निहित था। इसी कारण उन्होंने हिंदुस्थानी एकेडेमी में भी पूरी-पूरी दिलचस्पी ली और उस काम में भी हाथ बँटाया। उन्होंने स्वयं उर्दू से "फ़िसाना आज़ाद" अंग्रेजी से "सिलास मारनर" एवं गालसवर्दी के नाटकों, तथा फ्रांस के अनातोले फ्रांस के "थायस" नामक ग्रन्थ के हिंदी अनुवाद किए।

परंतु अब वे मर रहे थे। अजर-अमर पात्रों की सृष्टि करने वाला, विश्व वेदना को चिरंतन स्थायी स्वरूप देनेवाला व्यक्ति भी केवल एक मर्त्य मानव ही होता है, यह कठोर सत्य हम कई बार भूल जाते हैं। और अपने उन अंतिम दिनों में प्रेमचन्दजी

ने अपनी कई कहानियों को "मानसरोवर" नामक संग्रह के दो मोटे-मोटे भागों में संग्रहीत किया था, और जब अपने उन अन्तिम महीनों में आपत्ति के मारे "हंस" ने उनका मुँह ताका तो उन्होंने प्रेम-पूर्वक उसे भी गले लगाया, उसे पूरा सहारा दिया। मृत्यु-दिवस की उन अन्तिम घड़ियों में भी प्रेमचन्दजी को भारतीय साहित्य तथा "हंस" की ही फिक्र थी।

परंतु अब मृत्यु निकट थी। अन्य साथी प्रेमी तथा साहित्यिक शायद न जान पाए हों किंतु उस कलाकार को उसका आभास मालूम हो गया था। अपने आराध्य-देव साहित्य देवता से विदा लेना चाहता था, अपने प्यारे पाठकों को उपयुक्त स्मृति और साहित्य-संसार के पण्डों—प्रकाशकों और समालोचकों—को वे उचित दान देना चाहते थे, और चाहते थे कि वे अनजाने इस लोक से खिसक जावें। साहित्य के देवता के चरणों पर "मानसरोवर" को ही चढ़ा कर उन्हें संतोष न हुआ, परंतु क्या करते, विवश थे। अपने प्यारे पाठकों को वे अपनी स्मृति-स्वरूप "हंस" प्रदान कर गए और उन पण्डों को दिया उन्होंने "गोदान"। यों साहित्यिक "गोदान" देकर वे चल बसे, उस "गोदान" के लिए अंजली चढ़ाने के लिए उस कलाकार ने अपना ख़ून पानी करके बहाया।

और दुर्भाग्य से "गोदान" ही उनका अन्तिम उपन्यास हो गया; और मरते हुए कलाकार के उस "गोदान" के लिए दो शब्द लिखना,······नहीं, नहीं, घाव अभी बहुत ही हरा है। उस मृत

साहित्यिक की अन्तिम घड़ियों की सुध आज भी उस घाव में यदा-कदा दर्द पैदा कर देती है। वह एक बहुत ही बुरी चोट थी, जो उसके प्रेमी, प्रशंसक तथा मित्रों ने ही नहीं खाई, किन्तु उसने हिन्दी-साहित्य-संसार को भी आहत किया.........कब तक यह घाव हरा रहेगा यह कौन जानता है? आज भी जब कभी उस कलाकार की याद आ जाती है, जब आलमारी में रखी हुई "रंगभूमि", "सेवासदन" आदि ग्रन्थों की उन मोटी जिल्दों पर के वे काले-काले अक्षर आँख फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखते हैं, दिल एक बार फिर तड़प उठता है और ओठ अनजाने "सनेही जी" का यह पद कह उठते हैं:—

"चाहिए था जिनको कि उम्रे जाविदानी
मिले फानी दुनिया में वही फानी हाय! होगए।
पत्थर को पानी करने का जिनमें था दम
ऐसी व्याधि आई वही पानी हाय! होगए।
मौत नागहानी से किसी का कुछ चारा नहीं
छोड़ा यह जहाँ, आजहानी हाय! होगए।
जिन प्रेमचन्द की कहानी चली घर-घर
वही प्रेमचन्दजी कहानी हाय! होगए।"

[मार्च, १९३७ ई०

इतिहास-शास्त्र

इतिहास अब तक अनेकानेक शास्त्रों का जन्मदाता बन चुका है। अर्थशास्त्र तथा राजनीति गत शताब्दी में इतिहास से विलग होकर स्वतंत्र शास्त्र बन चुके हैं। इतिहास की भित्ति पर ही इनकी नींव रखी गयी है और आज भी इतिहास ही इनका प्रधान आधार है। भूगोल भी इन्हीं दिनों प्राधान्य पाने लगा है। स्वर्गीय रायबहादुर हीरालाल जी के मतानुसार "पंडित जयचंद विद्यालंकार की यह एक नयी सूझ है जो भूगोल को शास्त्र का रूप देती है।" परन्तु भूगोल को शास्त्र का रूप देने में इतिहास का बहुत बड़ा हाथ है। आश्चर्यजनक बात यह है कि अभी तक इतिहास को शास्त्र का स्वरूप पाने का सौभाग्य नहीं मिला। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों अन्य शास्त्र इतिहास से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करते जाते हैं और ज्यों-ज्यों इतिहास का क्षेत्र संकीर्ण होता जाता है, त्यों-त्यों इतिहास का महत्व घटता जाता है। एक महान इतिहास-लेखक के मतानुसार जब तक इतिहास का राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध न रहे तब तक इतिहास का कोई महत्व नहीं रह जाता। इस प्रकार इतिहास अध्ययन की वस्तु न रह कर केवल मनोरंजन

की सामग्री बन जाता है। जिस इतिहास को भारत के महान् ऋषियों तथा विचारकों ने अध्ययन के योग्य तथा अत्यन्त आवश्यक समझा था, उसका यही महत्व रह जाता है ?

यूनान का महान् लेखक अरस्तू युरोपीय शास्त्रों तथा अध्ययन के प्रधान विषयों आदि का जन्मदाता माना जाता है। उसके 'पालिटिक्स' नामक ग्रन्थ में राजनीति-शास्त्र के अतिरिक्त एक दूसरे शास्त्र का निर्माण करने के लिए भी सामग्री मिलती है। अरस्तू ने इन बातों की विशद् विवेचना की है कि भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियाँ एक के बाद दूसरी क्योंकर विकसित होती हैं और क्रमागत रूप से विषम चक्कर में आती जाती हैं ? किस प्रकार विभिन्न शासन-प्रणालियाँ सदैव स्थान तथा देश-काल की विभिन्नता के अनुसार उपयुक्त होती हैं ? किस प्रकार उनका स्थायित्व रहता है, और किस प्रकार शासन को स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है ? इन सब प्रश्नों की अरस्तू ने विषद् रूप से विवेचना की है। इन प्रश्नों का आधुनिक राजनीति-शास्त्र में स्थान नहीं है, इसलिए इनको लिखकर अरस्तू ने इतिहास-शास्त्र की नींव रख दी थी, ऐसा माना जाय तो कोई बड़ी बात न होगी। अरस्तू ने जिस नवीन शास्त्र को प्रारम्भ किया था, वह दुर्भाग्य से उससे बाद बढ़ने न पाया। इतिहास तथा राजनीति शास्त्र के लेखकों तथा विद्वानों ने अरस्तू के कथनों की आलोचना करके ही सन्तोष कर लिया। उसके अनुमानों पर विचार कर उसमें रही-सही त्रुटियों को निकाल कर उन्हें विकसित

तथा परिवर्द्धित करने की किसी को न सूझी; इस ओर कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया। अनेकानेक पुस्तकों को पढ़ने से यह अवश्य जान पड़ता है कि कई लेखकों को कुछ ऐसे साहित्य की आवश्यकता अवश्य प्रतीत हुई जो राजनीतिज्ञों को ठीक मार्ग का निर्देश कर सके; और उस आवश्यकता को उन लेखकों की भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकों ने पूर्ण किया। मध्यकालीन इटली के कौटिल्य मेकियावेली की "प्रिन्स" नामक पुस्तक ऐसी ही कृति है। राजनीति के विद्वानों के मतानुसार यह पुस्तक राजनीति-शास्त्र का ग्रन्थ नहीं है किन्तु उसमें शासन तथा किसी विशिष्ट राज्य के स्थायित्व की विधि बतायी गई है। मेकियावेली को वे ही आदर्श उपयुक्त प्रतीत हुए जो तत्कालीन राज्यों को स्थायित्व प्रदान कर सकते थे।

राजनीति, इतिहास तथा आचार-शास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध शताब्दियों तक राजनीति तथा इतिहास के विद्वानों को सताता रहा है। इङ्गलैण्ड का महान राजतीतिज्ञ बर्क तथा योरपीय लेखक रूसो ने अपने ग्रन्थों में यथास्थान इस प्रश्न को हल करना चाहा था, किन्तु वे सब प्रायः एक ही परिणाम पर पहुँचे थे। इतिहास और भूतकालीन घटनाओं का भविष्य पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है, मनुष्यों को अपने विगत इतिहास से सम्बन्ध-विच्छेद करना कहाँ तक उचित है, इन प्रश्नों पर उन्होंने अपना स्पष्ट मत दिया है। एक प्रश्न जिसको हल न कर सकने के कारण ही इतिहास में अनेकानेक

महान दुर्घटनाएँ हो गई हैं, वह यह था कि किस प्रकार के इतिहास का अनुसरण करना चाहिए। इतिहास की तात्विक आलोचना के अभाव के कारण ही यह ठीक-ठीक नहीं जान पड़ा कि विगत इतिहास में मनुष्य या राष्ट्र कहाँ तक किसी विशिष्ट पथ से विलग हो सकते हैं। फ्राँस की भयंकर क्रांति में होने वाली विफलता का एक महान कारण यही था कि यद्यपि रूसो ने फ्रांसीसियों को अपने विगत जीवन से नाता न तोड़ने की राय दी थी, किन्तु यह विगत जीवन क्या है जिससे प्रयत्न करने पर भी राष्ट्र विलग नहीं हो सकते, इसने नहीं बताया था। सम्राटों के अत्याचार से पीड़ित प्रजा को अपना विगत राजनैतिक जीवन तथा इतिहास बहुत कुछ अप्राकृतिक तथा कृत्रिम ही जान पड़ा और अपने राष्ट्रीय जीवन के इस सड़े-गले अङ्ग को काट कर फेंक देना ही उन्हें उपयुक्त प्रतीत हुआ।

विगत शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जब सर जान सीली ने नवीन आदर्शों को लेकर इतिहास-लेखन में परिवर्तन करना चाहा तो उन्होंने लिखा—"मेरा विशिष्ट मत यह है कि इतिहास का विवेचन वैज्ञानिक रीति से किया जाय; फिर भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि इतिहास के अन्तर्गत कोई न कोई व्यवहारिक आदर्श अवश्य रहे।" तात्पर्य यह कि इतिहास का उद्देश्य केवल पाठकों की भूतकाल सम्बन्धी उत्कण्ठा तृप्त करना ही नहीं होना चाहिए। उससे वर्तमान तथा भविष्य में घटनेवाली घटनाओं के सम्बन्ध में भी पाठकों को कुछ मालूम हो सके। दूसरे शब्दों

में "यदि इतिहास का कुछ भी महत्व हो तो केवल इसी कारण से कि उससे भविष्य में होनेवाली घटनाओं का कुछ आभास जान पड़े।" यदि इस मत का अक्षरशः पालन किया जाता तथा इसको न्यायानुसार प्राप्त होनेवाले स्वरूप तक विकसित किया जाता तो सम्भव था कि सीली के हाथों इतिहास-शास्त्र की नींव ही नहीं पड़ जाती वरन् उसका बहुत-कुछ स्वरूप भी देख पड़ता। एक विशिष्ट मत के प्रतिपादन करने तथा उस मत को ठीक बताने के लिए ही उसने उस पद्धति का अनुसरण किया था जिसका समर्थन उपर्युक्त वाक्यों में है। यदि सीली के विशिष्ट मत तथा शैली को छोड़ कर उपर्युक्त वाक्यों पर ही विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक इतिहास में तात्विक आलोचना का समर्थक है। उसने इतिहास के दो विशिष्ट अङ्गों की विभिन्नता की ओर स्पष्ट निर्देश किया है। सम्भव है उस लेखक का विचार इतनी दूर न पहुँचा हो किन्तु उपर्युक्त वाक्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सीली के मतानुसार इतिहास में वैज्ञानिक तथा तात्विक दो पद्धतियाँ हैं, जिनका पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा ही घना है और इन दोनों की ही भित्ति पर इतिहास की सत्यता तथा उपयोगिता निर्भर है।

इन दोनों पद्धतियों को परिवर्धित करके विकसित स्वरूप दिया जावे तो "इतिहास-शास्त्र" नामक एक नवीन शास्त्र की नींव डाली जा सकती है। आज अनेकानेक विषय शास्त्र का स्वरूप धारण कर चुके हैं और उन्होंने अपना-अपना विशिष्ट आदर्श

तथा स्वरूप निश्चित सा कर लिया है। इस विषय पर बहुत कुछ लिखा भी जा चुका है, परन्तु इतिहास के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं है। बर्क, बेजहाट आदि लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है, किन्तु इतिहास का महत्व देखते हुए वह बहुत ही कम है।

क्या इतिहास-शास्त्र नामक कोई शास्त्र निर्माण किया जा सकता है? क्या शास्त्रीय ढङ्ग से तथा आलोचनात्मक दृष्टि से इतिहास की विवेचना की जा सकती है? क्या समस्त संसार के इतिहास की एक रूप से विवेचना हो सकती है? क्या देश-काल के बन्धन हटा दिये जा सकते हैं? ये सब कठिनाइयाँ प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति के मस्तिष्क में अवश्य उठेंगी और यह भी मानना होगा कि ये कोई काल्पनिक कठिनाइयाँ नहीं हैं, बल्कि इस विषय या ढंग से लिखने वाले के सम्मुख महान बाधाएँ भी उपस्थित हो सकती हैं। सम्भव है, कई महान लब्ध-प्रतिष्ठित लेखक मेरे कथन से सहमत न हों किन्तु मेरे विचारानुसार यह सम्भव ही नहीं, किन्तु परम आवश्यक हो गया है कि इतिहास की दार्शनिक विवेचना की जाय तथा इतिहास-शास्त्र या इतिहास-दर्शन (Philosophy of History) का निर्माण हो। इतिहास उद्देश्य-विहीन है। प्रत्येक लेखक अपनी-अपनी खञ्जरी लिये अपना-अपना राग अलापता है। बिना ध्रुव-मच्छी की नाव के समान यह विषय समय-समय पर उठनेवाले मतमतान्तरों की तरङ्गों से इधर-उधर पटका जा रहा है। यह स्वीकार करते हुए कि इतिहास पर ही देश

तथा राष्ट्र का भविष्य निर्भर रहता है, उसको उद्देश्य-विहीन भटकने देना देश का अहित करना है। उद्देश्य-विहीनता के कारण ही भयंकर त्रुटियाँ तथा महान भूलें होती हैं और उनका हानिकारक प्रभाव राष्ट्रीयता की दृष्टि से देश के लिए घातक है। भारत में मुसलमान शासकों का इतिहास ऐसी ही भयंकर त्रुटियों का एक विशिष्ट उदाहरण है। इतिहास के उद्देश्य को पूर्णतया समझने तथा उसका परिपालन करने के लिए दार्शनिक विवेचना की बहुत बड़ी जरूरत है।

यह सच है कि देश-काल के साथ मनुष्य के आचार-विचारों में परिवर्तन हो जाता है और राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदर्शों में विभिन्नता भी आ जाती है। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि मानव-स्वभाव संसार भर में तथा सब काल में समान रहा है और देश-काल के अनुसार होने वाली यत्किंचित विभिन्नताओं पर विचार करने से मानवीय विचार-शैली में एक अनोखा सामञ्जस्य तथा एकता पाई जाती है। आर्थिक विचारों तथा घटनाओं का प्रभाव सारे संसार पर एकसा पड़ता है। मनुष्य कहीं भी अर्थ के प्रभाव से नहीं बच सका है और जो व्यक्ति उससे परे हो गये हैं वे समाज के अपवाद मात्र हैं। इतिहास को आर्थिक दृष्टिकोण से लिखने का प्रयत्न किया जा रहा है जिसका एक विशिष्ट उदाहरण सेलिग्मन लिखित 'इकानामिक इण्टरप्रिटेशन आफ हिस्ट्री' है। इस दृष्टिकोण का प्राधान्य प्रायः जर्मन और साम्यवादी लेखकों

में पाया जाता है। भौगोलिक प्रभाव का भी मानव स्वभाव पर समान परिणाम होता देख पड़ता है। राजनीतिक घटनाएँ भी प्रायः एक ही प्रकार के ढाँचे में ढलती हैं और पूर्वीय तथा पश्चिमी देशों में समान रूप से प्रभाव दिखाती हैं। महान् साम्राज्यों के पतन का कारण सब जगह अत्याचार तथा ऐश्वर्य का प्राधान्य हुआ है। मानव-स्वभाव की इसी एकता तथा इसी समानता की भित्ति पर इतिहास-शास्त्र की नींव डाली जा सकती है।

तब इतिहास-शास्त्र का विषय क्या होगा? उसका आधुनिक इतिहास-साहित्य से क्या सम्बन्ध होगा? क्या इससे आधुनिक इतिहास-साहित्य तथा उसका महत्व नष्ट हो जायगा? इन सब प्रश्नों का उत्तर दे देना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। क्योंकि इनका उत्तर दिये बिना इस शास्त्र के क्षेत्र की रूप-रेखा स्पष्ट नहीं होती।

सीली के जिस कथन को उद्धृत किया गया है, उसी के अनुसार इतिहास में दो पद्धतियाँ हो सकती हैं—"वैज्ञानिक पद्धति तथा "व्यवहारिक पद्धति"। इन्हीं दो पद्धतियों को लेकर उनकी विशद् व्याख्या की जाय तो यह विषय स्पष्ट हो जाय। सम्भव है सीली द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त पद्धतियों की जो व्याख्या यहाँ दी जाती है वह पूर्णतया नवीन तथा सीली की व्याख्या से भिन्न हो, किन्तु उसका वह विभाजन बहुत ही अच्छा है, अतएव इसका उपयोग किया जा सकता है। इतिहास की वैज्ञा-

निक पद्धति वह हो जिसमें केवल खोज करने के लिए तथा जाँच करने के लिए ही खोज की जाय। यह खोज विशिष्ट वैज्ञानिक आदर्शों को सम्मुख रख कर की जाय। इससे खोज में किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं आने पाएगी। इसके विपरीत व्यवहारिक रीति वह होगी जिसमें कोई न कोई व्यवहारिक उद्देश्य पूर्ण करने के लिए खोज की जाय। सीली का व्यवहारिक उद्देश्य एक विशिष्ट मत का प्रतिपादक था। मेरे मतानुसार इतिहास का व्यवहारिक उद्देश्य देश के भविष्य को निर्धारित करना है। देश के भावी पथ को ढूँढ़ निकालना तथा मार्ग में उपस्थित होने वाली बाधाओं आदि का सामना करने के लिए तैयारी करना ही इतिहास का व्यवहारिक उद्देश्य है। इतिहास को राष्ट्र के हितार्थ लिखना तथा उसी उद्देश्य से उसका अध्ययन करना व्यवहारिक उद्देश्य है। जिस पद्धति से व्यवहारिक उद्देश्य सफल हो सके वही व्यवहारिक पद्धति है। अब यदि विचार किया जाय तो आधुनिक इतिहास-साहित्य तथा उसकी पद्धति प्रथम विभाग में आ सकती है और "वैज्ञानिक पद्धति" के अन्तर्गत उसका समावेश हो सकता है। इतिहास-शास्त्र द्वितीय विभाग अर्थात् व्यवहारिक पद्धति के अन्तर्गत आ सकता है। अब देखना है कि इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? इतिहास के उद्देश्य तथा उसके कार्य के सम्बन्ध में यदि विशद दृष्टि-कोण से विचार किया जाय, और उसका सामूहिक स्वरूप देखा

जाय, तो उसके विशिष्ट अंग देख पड़ते हैं। प्रथम तो वे घटनाएँ होती हैं, जो सामूहिक स्वरूप से इतिहास के लिए सामग्री उपस्थित करती हैं, और जिनका संग्रह ही इतिहास की विशेष निधि है। दूसरा विभाग उपर्युक्त घटनाओं का वह सम्बन्ध और स्वरूप होगा जो किसी ध्येय से एक विशेष स्वरूप में उपस्थित किया जाता है। प्रथम उद्देश्य में घटनाओं को इकट्ठा करना, उनको क्रमानुसार रखना आदि कार्य हैं जो आजकल के इतिहासकार किया करते हैं। विभिन्न घटनाओं को ढूँढ़ निकालना, उनकी सत्यता की परीक्षा करना, और उनकी एकाकी रूप में आलोचना तथा जाँच करना यही आधुनिक इतिहास का उद्देश्य है। यही विशद् रूप में लिखे गए इतिहास-शास्त्र का प्रथम तथा महान महत्वपूर्ण अंग भी होगा; क्योंकि इतिहास-शास्त्र के प्रधान तथा क्रमागत स्वरूप व्यवहारिक आलोचना और तात्विक विवेचना की नींव उन्हीं घटनाओं पर रखी जायगी। अतएव पूर्ण खोज के बाद इतिहासकार जो सामग्री इतिहास-शास्त्रियों तथा जनसमाज के सन्मुख समुपस्थित करेंगे वही घटनाएँ तात्विक आलोचना का आधार बन सकेंगी और उस तात्विक आलोचना का महत्व तभी अमिट तथा स्थायी हो सकेगा। इससे लाभ तभी उठाया जा सकता है जब इसका आधार सच्चा हो। सच्ची घटनाएँ ही ठीक आलोचना के लिए सामग्री प्रदान कर सकती हैं। जो आलोचना झूठी घटनाओं तथा अर्ध सत्य इतिहास के आधार पर लिखी जावेंगी वह व्यर्थ ही नहीं होगी,

वरन् राष्ट्र के लिए हानिकारक भी होगी। अतएव यह स्पष्ट है कि आधुनिक रीति से की गई ऐतिहासिक खोज के लिए तात्त्विक आलोचना, जो इतिहास-शास्त्र का प्रधान अंग है, अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना इतिहास-शास्त्र के लिए कोई स्थायी आधार नहीं मिल सकता।

यह भी मानना होगा कि इतिहास-शास्त्र का आधुनिक इतिहास-साहित्य के बिना कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। आधुनिक ऐतिहासिक शैली इतिहास को उद्देश्य-विहीन वस्तु बना देती है। सत्य की खोज ही उसका उद्देश्य होता है और निरर्थक सत्य की ओर संसार कभी आकृष्ट नहीं होता, विशेषतया उस निरर्थक सत्य के लिए जो शताब्दियों से मिट्टी में दबा पड़ा है या जिसके खंड वर्षों से गिर रहे हैं और एक दिन पूर्णतया नष्ट होने की बाट देख रहे हैं। दार्शनिक तथा ईश्वर सम्बन्धी अन्य तत्वों की ओर मनुष्य इसी कारण आकर्षित होता है कि उसे दूसरी दुनिया का लोभ होता है। मृत्यु के बाद अपने जीवन को जानने तथा अज्ञानान्धकार से आच्छादित अपने भविष्य को समझने के लिए उसकी उत्कट इच्छा होती है और दार्शनिक तथा ईश्वर सम्बन्धी विचार इसमें सहायक होते हैं। अतएव उद्देश्य-विहीनता ही इतिहास की विफलता का कारण हुई है। इसी कारण भारत के प्राचीन युग में इतिहास को विशेष महत्व नहीं दिया गया था। युरपीय जन-समाज में जो इतिहास-प्रेम फैला है, वह कुछ ही शताब्दियों का है। उसकी नींव देश-प्रेम की भित्ति

पर है जो निरन्तर बढ़ने वाले विश्व-बन्धुत्व के आदर्श के कारण धीरे-धीरे गल-गल कर ढहने लगी है। ऐसी परिस्थिति में यदि इतिहास का कोई उपयोग नहीं ढूँढ़ा जावेगा तो इसका विनष्ट हो-जाना अवश्यम्भावी है। इतिहास उद्देश्य विहीन रहा है। जिस-जिस अंग को कुछ न कुछ उद्देश्य प्राप्त हो गया वह विकसित हो कर पूर्ण शास्त्र हो गया। इतिहास से विलग होते उसे समय न लगा। इतिहास और राजनीति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि राजनीति शास्त्र के महान लेखक इतिहास के बिना राजनीति का अस्तित्व ही नहीं मान सकते। फिर भी आज राजनीति एक ऐसा शास्त्र बन गया है जो इतिहास से पूर्णतया भिन्न है।

तात्विक आलोचना ही इतिहास को एक नवीन जीवन तथा स्थायित्व प्रदान कर सकती है। इसी इतिहास-शास्त्र के कारण इतिहास का महत्व अधिकाधिक बढ़ सकता है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार आधुनिक ऐतिहासिक शैली तथा साहित्य के बिना इतिहास-शास्त्र को कोई दूसरा आधार नहीं प्राप्त हो सकता, उसी प्रकार इतिहास-शास्त्र के बिना इतिहास का महत्व तथा स्थायित्व असम्भव-सा जान पड़ता है।

ऐतिहासिक घटनाओं की यही तात्विक आलोचना इतिहास-शास्त्र का विषय है। अमेरिका के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा महायुद्ध के समय उस देश के प्रेसीडेण्ट वुड्रो विल्सन ने "राजनीति दर्शन" (Philosophy of Politics) नामक एक बृहत् ग्रन्थ लिखने का आयोजन किया था। जिसमें उन्होंने

इतिहास के आधार पर राजनैतिक क्षेत्र में तात्विक आलोचना करने का विचार किया था। यद्यपि वह महान कार्य नहीं किया जा सका परन्तु उस लेखक की जीवनी, उसके पत्रों, उसके विशिष्ट ग्रन्थों और लेखों से इस आयोजन का जो स्वरूप प्रकट होता है, उससे आयोजक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। इतिहास-शास्त्र को लिखने तथा इसका पूर्ण आयोजन करने में "राजनीति दर्शन" से भी सहायता मिल सकती है। यदि विद्वान लेखक इस ओर ध्यान दें तो शीघ्र ही यह आयोजन पूर्ण स्वरूप धारण कर ले। फिर भी जो-जो विचार मुझे इस शास्त्र के विषय में सूझते हैं, उन्हें यहाँ उपस्थित कर देना उचित समझता हूँ।

इतिहास-शास्त्र को दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम विभाग में उन सब कारणों का अध्ययन करना होगा जो इतिहास को प्रभावान्वित करते हैं तथा उसको एक विशिष्ट मार्ग की ओर झुकाते हैं। भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा मानवीय व्यक्तित्व सम्बन्धी प्रभावों का सापेक्ष्य महत्व जानना अत्यन्त आवश्यक है। किन-किन कारणों से किसी विशिष्ट प्रभाव की प्रधानता होती है? कैसे उनका प्राधान्य होता है? तथा किन कारणों से उनके महत्व में शिथिलता आ जाती है? आदि प्रश्नों का साधारण रूप से विवेचन होना आवश्यक है। यह भी जानना आवश्यक हो जाता है कि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ इतिहास में किस प्रकार विद्यमान रहती हैं और उनका प्राधान्य न होने का तात्पर्य उनका अभाव नहीं समझना चाहिए। मानव-

स्वभाव की गहन दुर्बोध प्रवृत्तियों, अनेकानेक भावों की उलझी समस्याओं आदि का विवरण, उनके प्रभाव और क्रिया तथा प्रतिक्रिया आदि को समझना ही इस प्रथम विभाग का उद्देश्य होगा।

इस आधार पर इतिहास की आलोचना करना दूसरे विभाग का हेतु होगा। किन-किन कारणों से राष्ट्रों का उत्थान होता है? किस प्रकार भिन्न-भिन्न कारण राष्ट्र में जाग्रति उत्पन्न करके उसे एक मार्ग की ओर ले जाते हैं? किन-किन तत्वों से राष्ट्र में उन्नतिशीलता विद्यमान रहती है? कौन तत्व राष्ट्र को जीवन प्रदान करते हैं? किस प्रकार उन तत्वों का ह्रास होता है और राष्ट्र में निर्जीवता की सर्दी घुस जाती है, तथा राष्ट्र पतन की ओर ढुलक पड़ता है? किन-किन कारणों से राष्ट्र को पतन की ओर अग्रसर होने से रोका जा सकता है, तथा देश में पुनर्जाग्रति एवं पूर्ण जाग्रति के लिए किन-किन तत्वों की आवश्यकता होती है? किस मार्ग पर चल कर राष्ट्र अपनी संस्कृति को जीवित तथा उन्नतशील बनाए रख सकता है? संस्कृति में कौन-सा सम्मिश्रण हानिकारक होता है? किस प्रकार प्राचीन अधमरी संस्कृति में नवीन सम्मिश्रणों से जीवन डाला जा सकता है? क्रान्ति क्या वस्तु है? उसका क्या कारण है? क्या यह अवश्यम्भावी है? आदि प्रश्न प्रत्येक राष्ट्र के लिए बड़े ही महत्व के हैं और उन पर पूर्ण विचार के साथ इतिहास की घटनाओं के आधार पर स्पष्टीकरण करके राष्ट्र को मार्ग दिखाना,

यही इतिहास-शास्त्र का दूसरा कार्य होना चाहिए।

इतिहास को शास्त्र का रूप देने का यह पूर्णतया नवीन आयोजन आज एक विशिष्ट कारण से रखा जा रहा है। भारत के सम्मुख उसके राजनैतिक ही नहीं किन्तु धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक भविष्य को भी निर्धारित करने का प्रश्न समुपस्थित है। आज भारत की प्राचीन संस्कृति निर्जीव तथा आधुनिक काल की नवीन परिस्थितियों के लिए पूर्णतया अनुपयुक्त देख पड़ती है; नवीन संस्कृति भी सदोष है और उसका भविष्य भी अभी तक अन्धकार पूर्ण है। ऐसी परिस्थिति में कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए, यह एक अनबूझ पहेली है। इस समस्या को सुलझाने में इतिहास की बहुत बड़ी ज़रूरत है और इतिहास तभी सहायता दे सकता है जब ठीक घटनाओं के आधार पर उसके विशिष्ट तत्वों की आलोचना की जाए। भारत को ठीक मार्ग इतिहास-शास्त्र ही बता सकता है। अतएव भारत के भविष्य के लिए यह लाभदायक ही नहीं है अत्यन्त आवश्यक भी है।

[सितम्बर, १९३३ ई०]

शिमला से

[१]

प्रियवर, मैं तुम्हारी पृथ्वी से बहुत दूर, मानो किसी गन्धर्व लोक में, आ गया हूँ। अभ्रम्भेदी गिरिराज के अङ्क में यह लोक बसा है। यहाँ विलासियों का श्री-निकेतन है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यहाँ के लोगों को जरा, मृत्यु और व्याधि का भय ही नहीं है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि चिन्ता से ग्रस्त लोग भी यहाँ आकर अपनी सारी चिन्तायें भूल जाते हैं। यही जान पड़ता है कि मनुष्य का सारा जीवन ही एक क्रीड़ा है, लीला है, विलास है, सुख-स्वप्न है। यह बात नहीं है कि सभी लोग यहाँ श्रीमान् ही हैं। यदि सभी श्रीमान् हो जाते तो उन श्रीमानों की सेवा ही कौन करता। जहाँ श्रीमान् हैं वहीं दरिद्रों की आवश्यकता है। उन्हीं से उनकी श्री-वृद्धि होती है। जहाँ ऐश्वर्य है, जहाँ विलास है वहाँ दुःख और दारिद्र्य न हो तो ऐश्वर्य की महत्ता कैसे प्रकट होगी। जहाँ प्रभु हैं वहीं भृत्य होंगे; जहाँ शासक है वहाँ शासित होंगे; जहाँ विलास है वहाँ दारिद्र्य होगा।

यों तो भारत में कई पहाड़ हैं जहाँ हमारे शासकों के ग्रीष्म-कालीन विहार-स्थल हैं, किन्तु उनमें सबसे रमणीय वे स्थान हैं जो भारत-मुकुट-मणि हिमालय पर स्थित हैं। उनमें मुख्य ये हैं, शिमला, मन्सूरी, नैनीताल और दारजिलिङ्ग। राजनैतिक दृष्टि से शिमला ही इनमें सबसे मुख्य है क्योंकि भारत के वाइसराय ग्रीष्म काल में यहीं निवास करते हैं। एक तरह से तो छः मास के लिए—अप्रेल से सितम्बर तक—शिमला ही भारतवर्ष की राजधानी हो जाता है। शिमला का वर्णन करते हुए एक लेखक लिखता है कि "शिमला का यह छोटा शहर भारतीय साम्राज्य की राजधानी है। भारत के कितने ही राजे, महाराजे और उच्च-पदस्थ कर्मचारी तथा विदेशों के कितने ही श्रीमान् यात्री यहाँ के सब बाज़ारों में घूमते दिखाई देते हैं। छः मास तक लगातार ऊँटों और बैलों की लम्बी-लम्बी कतारें भारत में प्राप्य ऐश्वर्य का सामान लाकर यहाँ ढोती रहती हैं। हजारों सुन्दर छोटे-छोटे बँगले यहाँ के आस पास की पहाड़ियों पर बने हुए हैं। यहाँ प्रतिदिन साफ सड़कों पर ग्रीष्म-काल में सन्ध्या के समय नये-नये फैशन तथा सौंदर्य की एक प्रदर्शिनी सी हो जाती है।"

शिमला जाने के लिए हमें कालका जाना पड़ता है, यह एन० डबल्यू० रेलवे का एक स्टेशन है। यहाँ से शिमला जाने के लिए दो राह हैं; एक तो मोटर का रास्ता और दूसरा रेलवे का। मोटर की सड़क का काम सन् १८५० ई० में आरम्भ हुआ था और रेल के बनने के पहिले मोटर ही से सब आते-जाते थे।

आज भी कितने ही यात्री मोटर से जाते हैं। यह सड़क कोई ५८ मील लम्बी है इसको बनाने में इञ्जीनियर ने अपनी सारी बुद्धि लगा दी है। सड़क पहाड़ के ऊपर ऐसे ढङ्ग से निकाली गई है कि चढ़ाव ज्ञात नहीं होता है। कालका से कोई १४ मील पर धरमपुर आ जाता है, जहाँ क्षय-रोग के रोगियों के लिए सेनिटोरियम भी है, और यहीं से कसौली को रास्ता जाता है। यहाँ एक डाक-बँगला है। रेलवे-स्टेशन पर खाने-पीने के लिए सामान मिल सकता है। यहाँ से सबाथू जाने को एक राह है, जहाँ कुष्ठ के रोगियों की चिकित्सा होती है। आगे यह सड़क डागशी पहाड़ी के तले होकर निकली है। इस पहाड़ी पर सेना रहती है। यद्यपि यहाँ सघन वृक्ष हैं; किन्तु सुदूर पर बने हुए बैरक आदि दिखलाई देते हैं। आगे कुमरहट्टी का छोटा सा गाँव मिलता है जहाँ से बड़ोघाट की चढ़ाई शुरू होती है। कोई ढाई मील जाने पर हम उस पहाड़ की चोटी पर पहुँच जाते हैं और वहाँ से सोलन की तलहटी का अच्छा दृश्य दिखाई देता है। यहाँ से फिर उतार शुरू हो जाता है। कुछ दूर तक तो झाड़ी बड़ी ही सघन है। यहाँ की सड़क बड़ी ही विकट है। एक ओर तो ऊँचे-ऊँचे कगार दिखाई देते हैं और दूसरी ओर गहरे गह्वर। आगे कोई मील भर की घाटी के बाद हम सोलन पहुँच जाते हैं। यहाँ का डाक-बँगला बहुत अच्छा है और प्रायः प्रत्येक यात्री यहाँ कुछ खा-पी लेता है और फिर आगे चढ़ता है। थोड़ी दूर से फिर उतार शुरू हो जाता है जो कंडाघाट में जाकर बन्द हो

जाता है। कंडाघाट से चेल, जो पटियाला महाराज का ग्रीष्म-निवास-स्थान है, एक सड़क जाती है। यहाँ नीचे आशनी नदी भी नजर आती है। कंडाघाट के आगे कोई पाँच मील तक चढ़ाव है, यहाँ कियारीघाट का एक डाक-बँगला है। यहाँ से राह सीधी और समतल है; किन्तु कथलीघाट के बाद चढ़ाव फिर शुरू हो जाता है। हम शोगी पहुँचते हैं और आगे तारादेवी। यहाँ अलीगढ़ डेअरी फार्म की एक ब्राँच है। तारादेवी से कोई तीन मील पर शिमला म्युनिसीपालटी की हद शुरू होती है।

यह तो मोटर आने-जाने की राह है, रेल की यात्रा का विवरण भी आपको बतलाता हूँ। कालका से शिमला के लिए जो रेलवे-लाइन निकली है वह दो फ़ीट छः इंच की छोटी लाइन (Narrow Gauge) है। कालका से ही रेल हिमालय की अगण्य श्रेणियों पर चढ़ने लगती है। यहाँ इञ्जीनियरों ने रेल-पथ को ऐसी ख़ूबी से निकाला है कि देख कर आश्चर्य होता है। कालका से कुमरहट्टी तक लगातार चढ़ाव ही चढ़ाव है। यहाँ से थोड़ी दूर पर ट्रेन बडोग के बोगदे में घुसती है। यह बोगदा ३,७०० फ़ीट लम्बा है। इससे निकलते ही बडोग का स्टेशन आ जाता है, जहाँ यात्रियों के खाने, पीने का पूर्ण प्रबन्ध किया गया है और उनके सुभीते के लिए रेल आध घण्टा ठहरती है। बडोग में यात्रियों को प्रथम बार पहाड़ों की शान्ति तथा शीतलता का आभास होता है तथा उन्हें मैदान की गर्म लू का डर नहीं रहता। यहाँ से कंडाघाट तक ट्रेन उतरती रहती है। कंडाघाट

के बाद ट्रेन फिर चढ़ने लगती है, और जहाँ तक शिमला नहीं आ जाता है, चढ़ती ही जाती है। ज्यों-ज्यों ट्रेन पहाड़ पर चढ़ती जाती है, यात्रियों को एक विचित्र दृश्य दिखाई देता है। एक ओर तो गगन-स्पर्शी गिरि-शृङ्ग दिखाई देते हैं और दूसरी ओर ट्रेन से थोड़े ही फ़ीट की दूरी पर कोई हज़ार फ़ीट गहरा विकराल गह्वर मुँह बाये दिखाई देता है मानों यात्रियों को यह सूचित कर रहा है कि ऐश्वर्य-लोलुपों के लिए कराल काल अपना विकराल विवर फैलाये हुए है।

इस सड़क पर कोई १०३ तो बोगदें हैं, जिनकी लम्बाई पाँच मील के ऊपर है। इस सड़क को बनाने में १,८०,००,००० रु० ख़र्च किया गया था। अन्त में सुदूर स्थित शिमला दिखाई पड़ने लगता है, जिससे नवीन यात्रियों के हृदय में कुतूहल का भाव उमड़ने लगता है। आख़िर शिमला आ ही जाता है।

(२)

अब मैं तुमको ज़रा शिमला की सैर करा देना चाहता हूँ। यहाँ पहाड़ों पर घूमने के लिए सिर्फ़ रिकशा ही मिलती है। हाँ, अगर हम कोशिश करें तो किराये पर घोड़े भी मिल सकते हैं।

यहाँ का सबसे खुला मैदान रिज है। यहाँ पूर्व की ओर क्राइस्ट चर्च है। यहाँ आपको सन्ध्या के समय अंग्रेज़ बच्चों के लिए दाइयां बैठी दिखाई देती हैं। इसी मैदान में प्रति वर्ष भारत-सम्राट् के जन्म-गांठ के उत्सव में परेड होती है। हिमालय के

शृङ्ग पर ब्रिटिश-सिंह की जय-पताका प्रदर्शित होती है। एक ओर पश्चिम की तरफ कुँवर जीवनदास, जबलपुर द्वारा बनाया हुआ बैन्ड-स्टेण्ड है। यहां प्रति सोमवार की संध्या को बैंड बजाया जाता है। यहां से पूर्व की ओर जेको नामक चोटी दिखाई देती है, उत्तर में हिमाच्छादित चोटियां दृष्टिगोचर होती हैं। तुम्हें यह देख कर आश्चर्य होगा कि प्रत्येक राहगीर किसी न किसी काम में व्यस्त-सा चला जा रहा है, मानो उसके लिए कुछ है ही नहीं। थोड़ी ही दूर पर पहाड़ियों तथा घाटियों का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। यह दृश्य सुन्दरता की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, जब सुदूर हिमाच्छादित चोटियाँ वृक्षों से ढकी हुई पहाड़ियों के पीछे स्पष्ट दिखाई देती हैं। दूसरी ओर हमें मैदान दीख पड़ता है तथा नीचे सतलज नदी एक लकीर के सदृश्य नजर आती है। इस सुन्दरता को प्रकृति के प्रेमी ही जान सकते हैं, तथा उसमें आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। जो मनुष्य इस स्थान से निकलते हैं और प्रकृति के इस शुद्ध तथा सुन्दर दृश्य में कुछ नहीं देख पाते हैं; तभी जान पड़ता है कि मनुष्य ने अपने आपको कितना कृत्रिम बना लिया है। उसे प्रकृति के शुद्ध तथा सुन्दर दृश्यों में आनन्द तथा सुख का अनुभव नहीं होता। उसे अपने नेत्रों की तृप्ति के लिए मनुष्य-द्वारा निर्मित मकान तथा वस्तुएँ ही चाहिए। मनुष्य के लिए बाज़ार में जो आकर्षण होता है वह पहाड़ की इन गगन-चुम्बी चोटियों, गहरी घाटियों तथा सुदूर-स्थित मैदान की शान्ति में नहीं मिलता है।

अब कहो, तुम्हें किधर ले चलूँ। गिरजे की बाईं ओर एक रास्ता जाता है। चलो उसी राह चलें। इस रास्ते पर हमें लक्कड़बाज़ार मिलेगा। यहाँ लकड़ी पर खुदाई का तथा लकड़ी में पीतल या हाथी-दाँत की जड़ाई का सुन्दर काम दूकानों में देखने को मिलता है। यहाँ की दूकानें ख़ासकर सिक्खों की हैं। आगे हमें भारत के जंगी लाट की कोठी "स्नोडान" नज़र आती है। यह मकान पहले लार्ड राबर्ट्स का था; किन्तु लार्ड किचनर के समय से जंगीलाट यहाँ ही रहते हैं। यहाँ से आगे चलने पर हमें मशोबरा नामक पहाड़ी चोटी नज़र आती है और उसके पीछे शाली नामक चोटी देख पड़ती है, जिसकी ऊँचाई ८,५०० फ़ीट है। कुछ आगे मेयो स्कूल तथा अनाथालय दिखाई देते हैं और आगे संजोली नामक गाँव आता है। यह गाँव अपनी स्थिति के कारण दूर से बड़ा ही सुन्दर दिखाई देता है। यहाँ से दो रास्ते हो जाते हैं; एक तो संजोली के बाज़ार में होता हुआ आगे चला जाता है, दूसरा "लेडीज़ माल" नामक सड़क की ओर। यह पथ दाहिनी ओर का है; यह लार्ड लिटन के शासन-काल में बना था। यह सड़क चौड़ी और समतल है। इसकी सुन्दरता किनारे-किनारे लगी हुई घनी झाड़ी से बहुत बढ़ गई है। यह राह पहाड़ के मोड़ के साथ मुड़ती गई है। कोई आधी दूर पर हमको वे चट्टानें दिखाई देंगी जिन पर पहाड़ में से पानी के साथ बहकर निकले हुए खनिज पदार्थ जम गये हैं। उन चट्टानों पर पानी के बहने

के चिन्ह भी स्पष्टतया अंकित हैं। इनका नाम रक्खा गया है—डेविल्ज़ पेण्ट बाक्स—अर्थात् शैतान के रंगों की पिटारी। यहाँ लेडीज़ माल में से एक सड़क निकली है, जिसका नाम है लवर्स वाक (Lover's Walk) अर्थात् प्रेमियों का पथ। कैसा विचित्र नाम है! इस पथ पर हमें प्रकृति के उपासक तथा भ्रमण के इच्छुक पुरुष मिलेंगे। इस सड़क पर प्रातःकाल में अच्छी छाया रहती है; यहाँ सर्वत्र दूर तक शान्ति छाई हुई है, जो अगर कभी भंग होती है तो किसी शौकीन सवार तथा अंगरेज़ युवतियों के घोड़ों के टापों की आवाज़ से। इस स्थान को देखकर शान्ति तथा एकान्तवास के प्रेमियों का हृदय प्रसन्न हो जाता है। यह राह बहुत ही समतल है। यहाँ से पंजाब गवर्नर के रहने का स्थान "बार्नस कोर्ट" की ओर एक राह जाती है। इस भवन का नाम सर एडवर्ड बार्नस की यादगार में रखा गया है। ये बार्नस साहब, वाटरलू के महान् युद्ध में, जहां सदा समर-विजयी नेपोलियन को भाग्य के फेर से हार खानी पड़ी थी, अँगरेज़ी सेना के सेनापति ड्यूक आफ़ वेलिङ्गटन के सहायक थे। सन् १८३२ ई० में ये भारत में जंगीलाट होकर आये थे। यहां कुछ काल के लिए वास किया था। आगे पंजाब सेक्रेटेरियट आता है। कुछ आगे जाने पर एक रास्ता छोटा शिमला के बाज़ार में घुसता है। यह राह छोटा शिमला के बाज़ार में होती हुई कसमटी के बाज़ार में घुसती है और आगे पहाड़ियों पर निकल जाती है। कस-

मटी शिमला की म्युनोसिपालटी तथा जुङ्गा और कोठी नामक छोटी रियासतों के सरहदों पर बसा हुआ है। हम अगर कसमटी से कुछ दूर निकलें तो हमको निर्जन पहाड़ियाँ और घाटियाँ दिखाई देंगी। इन पर कहीं-कहीं छोटे-छोटे गांव बसे दिखलाई देते हैं। कहीं-कहीं कुछ समतल जगह भी है। वहाँ खेत बनाकर उनमें कुछ खेती की जाती है।

अब मैं तुमको शिमला की ओर लौटाता हूँ। हम पंजाब सेक्रेटेरियट से दाहिनी ओर का रास्ता लेते हैं। यहां हमको छोटा शिमला का डाक तथा तार-घर मिलता है। यहां कुछ चढ़ाई के बाद राह फिर समतल हो जाती है। यहां से बानर्स कोर्ट की ओर जाने को रास्ता फटता है। आगे हमारी सड़क पहाड़ी को चीरती हुई निकलती है, जिसको पहले खैबर का दर्रा कहते थे। यह देखिये पटियाला महाराज के मकान आ गए। बाईं ओर ओकोवर रह जाता है और अन्य मकान दाहिनी ओर।

इस सड़क पर जाते समय हमको काश्मीरी मुसलमान तथा पहाड़ी लोग अपने कन्धों पर लकड़ी के शहतीर या कोई अन्य भारी वज़न उठाये मिलेंगे। यही हिमालय के पुत्र हैं। उनके लम्बे बाल कन्धों तक लटकते रहते हैं, और गन्दे, जीर्ण ऊनी कपड़े तथा भेड़ की खालें उनके कन्धों से लटकती रहती हैं। उनके ज़र्द चेहरे, छोटी तथा चपटी नाक और ऊपर चढ़ी हुई आंखों से मालूम होता है कि वे पंजाब के निवासी नहीं हैं।

ये हमेशा लकड़ी का हुक्का पीते जाते हैं और .खुशी तथा मुस्कुराहट सर्वदा उनके चेहरों पर नृत्य करती रहती है। बातें करने को तथा खाने को वे हमेशा तत्पर रहते हैं। पंजाब के पहाड़ी ये लोग मनुष्यों से बहुत हिल-मिल जाते हैं। उनमें कई गुण भी होते हैं। वे विश्वसनीय, ईमानदार, शुद्ध तथा थोड़े में .खुश और सन्तुष्ट होने वाले होते हैं। इनकी क़तार की क़तार अक्सर लकड़ी के बड़े-बड़े कई शहतीर पाछू पहाड़ से लिए आती दिखाई देती है। ये इन शहतीरों को एक मोटे रस्से के साथ, जो कपड़ों के चिथड़े का बनाया हुआ होता है, अपने कन्धों पर बाँध लेते हैं और यद्यपि ये बोझ के मारे झुके जाते हैं और सख़्त मिहनत के कारण उनके चौड़े कपाल पर पसीने की बूँदें दिखलाई पड़ती हैं, जिन्हें वे समय-समय पर पोंछते जाते हैं, तो भी वे अपने रास्ते पर बराबर चलते ही जाते हैं। जब वे .ज्यादा थक जाते हैं, तब कुछ देर के लिए पहाड़ के सहारे या किसी अन्य चीज़ के सहारे अपना बोझ टिका कर कुछ बेर के लिए आराम करते हैं, पर ज्योंही थकावट मिटने लगी, वे फिर रवाना हो जाते हैं। कई बार नव-युवतियाँ भी ऐसे बड़े बड़े बोझ उठाये जाती दिखाई देती हैं। इस तरह इनके जीवन का एक बड़ा भाग व्यतीत हो जाता है। यद्यपि ये बोझ के मारे झुक जाते हैं तथापि ये सदा सुखी और अपने भाग्य से सन्तुष्ट प्रतीत होते हैं। कभी-कभी सारा कुटुम्ब का कुटुम्ब माँ, बाप, छोटे-बड़े भाई, बहनें सब यथा-

शक्ति एक-एक भारी बोझ लिए क़तार में मिलते हैं। ये हुक्का पीते जाते हैं और ख़ुश होकर बातें भी करते रहते हैं। लकड़ी के शहतीर अक्सर सड़क की चौड़ाई के बराबर लम्बे होते हैं—कभी-कभी इससे भी बड़े होते हैं। इन बेचारे कुलियों को ये शहतीर पाछू से, जो शिमला से कोई दस मील की दूरी पर है, शिमला लाना पड़ता है। जब कभी कोई सवार अथवा रिक्शा आती दिखाई देती है तब ये उस लम्बे शहतीर को, अपने शरीर को मोड़कर, सड़क की सीध में ऐसी फुर्ती के साथ करते हैं कि देखते ही बन आता है। ज़रा इनकी दशा पर कुछ विचार कीजिए। इनके जीवन में न हर्ष है न विषाद है; ये अपनी जीविका के लिए ऐसी कड़ी मिहनत करते हैं और अपनी आमदनी में खाने-पीने के सिवा जो बच रहता है, वह तम्बाकू आदि व्यसनों में ख़र्च हो जाता है। उन्हें भविष्य का ख़याल नहीं सताता। जीवन में विपत्तियों के झोंके सहन कर करके ये आज उनसे नहीं डरते हैं; जब विपत्ति आती है उसको सहन करने के लिए झुक जाते हैं और ज्यों ही वह चली जाती है, उसका ख़याल भी उनके हृदय से निकल जाता है। मनुष्य का जीवन उसकी दशा पर कितना निर्भर रहता है, इसका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है। निरन्तर दुःख तथा विपत्ति को सहन करने से मनुष्य की क्या दशा हो जाती है, तथा उसके क्या विचार हो जाते हैं, यह देखना हो तो इन मनुष्यों को देखिये, जो जीते भी मुर्दे के समान हैं।

(३)

अब मैं आगे बढ़ता हूँ। यह देखिये यहां बाईं ओर एक रास्ता नीचे जाता है जहां लार्ड रीडिङ्ग हास्पिटल बना हुआ है। इस अस्पताल में स्त्रियों तथा शिशुओं की चिकित्सा होती है। इसी राह में से आगे एक राह सेन्ट्रल होटल को जाती है जो आगे जाकर कार्ट रोड में मिल जाती है। पर हम तो सीधे ही चले जा रहे हैं, यह रास्ता माल Mall कहलाता है। यह देखिये सामने एक पुराना बैंड-स्टेण्ड दिखाई देता है, जहां आज-कल शाम के समय आया तथा दाइयां बच्चों को लिए बैठी रहती हैं। आगे आपको बाएँ हाथ पर क्लार्कस होटल दिखाई देगा और कुछ आगे से दूकानों की कतारें शुरू हो जाती हैं। इस सड़क पर हमेशा चहल-पहल बनी रहती है। यहां अधिकतर योरोपियन स्त्री-पुरुष दिखाई देते हैं। यह देखिए रिक्शाएँ भी आपके पास से जा रही हैं और वह घोड़े पर बैठे अँगरेज़ स्त्री और पुरुष आते दिखाई देते हैं। यह चहल-पहल सूर्योदय से सूर्यास्त तक बनी ही रहती है। शाम को भी कोई नौ बजे के बाद ही शिमला की सड़कें सूनी मिलेंगी। यहां कोई इस रेस्टेरां (Restaurant) में जा रहा है तो कोई उस होटल में से निकल रहा है। कोई इस दूकान में ख़रीदने जा रहा है, कोई उसमें। आश्चर्य यह होता है कि दिन भर यह भीड़ कहाँ से आती है, तथा कहाँ जाती है। यह भी विचार उठता है कि क्या इन

विलासी पुरुषों को निरन्तर ख़रीदने के सिवा अन्य कोई उद्यम है या नहीं और इसके लिए इतना पैसा कहाँ से आता है।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, इस सड़क पर अधिकांश युरोपियन स्त्री-पुरुष ही दिखाई देते हैं। आपको अगर इनके फ़ैशनों के विचित्र-विचित्र नमूने देखने हों तो क्षण भर के लिए ज़रा इस सड़क पर ठहर जाइए। आपको सामने सब दिखाई देगा। यहाँ भारतीयों पर भी पाश्चात्य सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव है। यहाँ आपको एक ही साथ दो भिन्न-भिन्न दृश्य दिखाई देंगे। एक ओर तो वे मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनकी सब ज़रूरतें पूरी हो जाती हैं तथा सुख का भी बहुत सा समान मौजूद है, फिर भी आत्म-दशा पर सन्तोष नहीं है। दूसरी ओर वे ग़रीब हैं जिनकी अन्य ज़रूरतों का पूर्ण होना तो अलग रहा एक बार भी भर पेट अन्न नहीं मिलता; फिर भी वे ख़ुश और अपनी अवस्था से सन्तुष्ट हैं। कितना बड़ा अन्तर है! एक ओर वे पुरुष हैं, जो यद्यपि ऐश्वर्य और विलास में निमग्न हैं फिर भी उन्हें अधिक की चाह लगी है। किन्तु दूसरी ओर सर्वशक्तिमान भगवान को इसी बात के लिए दुआ दी जाती है कि आज तो भूखों मरना न पड़ा। एक ओर तो वे आत्माएँ हैं जो विलास तथा सुख के उपभोग के लिए शिमला आती हैं तथा दूसरे कड़ी मिहनत करने को। इन विलासियों के मुख पर अगर कोई चिन्ता झलकती है तो अपने साथी की अच्छी दशा देखने पर अपनी दशा से असन्तोष होने के कारण। दूसरे ऐसे हैं कि यद्यपि निरन्तर परि-

श्रम के कारण कम उम्र ही में झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं, कड़ी मिहनत के कारण कमर झुक गई है फिर भी चेहरे से हमेशा सन्तोष टपका पड़ता है। उनके चौड़े कपाल पर तथा चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं। उनकी एक-एक झुर्री कहती है कि हम उस वीर के पदक-स्वरूप हैं, जिसे पग-पग पर अपनी जीविका के लिए सामना करना पड़ता है। इन चलते हुए मिट्टी के ढेलों के हृदयों की कौन थाह पा सकता है? यद्यपि ऊपरी दिखावे से ये मिट्टी के ढेले दिखाई देते हैं किन्तु इनके हृदय निरन्तर विपत्ति की आग में जल कर अब शुद्ध तपाये हुए सुवर्ण की भाँति स्वच्छ हैं। युद्ध में वीरता से लड़ने वालों से इन विपत्ति से लड़ने वाले वीरों का आसन बहुत ऊँचा है। पग-पग पर आपत्ति से लड़ने वाले तथा जीवन-संग्राम में सफलता के साथ उनका सामना करने वाले इन विजयी वीरों को देख कर हृदय में उनके प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट होता है तथा उनके प्रति आदर के साथ मस्तक झुक जाता है। एक ही स्थान में—खासकर इस विलास-भूमि में यह विपरीतता देखने योग्य है। इसको देखकर दर्शक के हृदय में विचित्र विचार उठते हैं। मनुष्य को ऐश्वर्य तथा विलास की निस्सारता प्रकट हो जाती है और उसके प्रति घृणा के भाव हो जाते हैं। वह अनजाने ही उन बेचारे कुलियों से सहानुभूति करने लगता है।

(८)

अब हम और आगे चलें। देखिए, यहाँ बाईं ओर काटन

मारिस की दूकान के पास से नीचे लोअर बाज़ार में जाने को रास्ता है। यहां म्युनिसिपालटी का बाज़ार है। चलिए पहले इसकी सैर कर आवें। यहां आपको छोटी-छोटी दूकानें दिखाई देती हैं जिनमें भारतीय, अफ़ग़ान और तिब्बती दूकानदार अपना सौदा लिये बैठे रहते हैं। यहां आपको प्रत्येक वस्तु मिल सकती है, भिन्नता यही है कि यहां योरपियन दूकानों की सी स्वच्छता तथा सजावट नहीं पाई जाती। इससे आपको इस बाज़ार में कम क़ीमत पर वस्तुएँ मिल जाती हैं। यहां ख़ासी भीड़ रहती है। यहां अँगरेज़ स्त्री-पुरुष भी कभी-कभी सौदा ख़रीदते दिखाई देते हैं। इस बाज़ार का वर्णन करते हुए एक अँगरेज़ लेखक ने लिखा है—इस बाज़ार में सर्वत्र शोर-गुल, खाना-पीना, लड़ाई-झगड़ा, क़ीमत पर झिक-झिक करना ही पाया जाता है। यहां की भीड़ में सब तरह के मनुष्य—प्रत्येक देश, धर्म, जाति और उम्र के स्त्री-पुरुष—पाये जाते हैं, ऐसी भीड़ किसी अन्य स्थान में पाना मुश्किल है। यह वह स्थान है जहां राज-नीतिज्ञ तथा षड्यन्त्र-कारी इकट्ठे होते है। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यह बाज़ार एक ऐसा स्थान है जहाँ उनको अपने काम का तथा विचार के लिए बहुत सा मसाला मिल सकता है।

अब वापस लौट कर "माल" पर फिर चलें। बाईं ओर दूकानों की कतार की कतार चली गई है। आगे एक बड़ा मकान दिखलाई पड़ता है। यह पहले टाउन हाल था। आज-कल यह

गेइटी थियेटर (Gaiety Theatre) है। जो ग्रीष्म काल में "शिमला एमेचूर ड्रेमेटिक क्लब" की नाट्य-शाला हो जाती है। इसके पास ही शिमला म्युनिसिपलटी का दफ़्तर है। बाईं ओर सामने "फायर-स्टेशन" है। गेइटी थियेटर के आगे का बड़ा मकान स्टेशन-लायब्रेरी है। इसकी स्थापना सन् १८४४ ई० में हुई थी। यह भारत का एक अच्छा पुस्तकालय समझा जाता है।

अब आगे चलिए। यहाँ दाहिनी ओर शिमला का बड़ा डाकघर है। आगे आपको दोनों ओर मकान मिलते हैं; कोई किसी संस्था-विशेष का भवन है और कोई किसी महकमे का दफ़्तर है। कुछ दूरी पर हमें पेलिटी का ग्रेंड होटल नजर आता है। इस मकान का पूर्व इतिहास बहुत लम्बा है, यह कोई संस्थाओं का केन्द्र भवन तथा कोई विख्यात पुरूषों का निवास-स्थान रह चुका है। यहाँ से आगे एक सड़क अननडेल नामक एक सुन्दर घाटी को जाती है जहाँ एक क्लब, घुड़-दौड़ तथा पोलो आदि के मैदान बने हुए हैं।

कुछ आगे चलने पर हमें कई रास्ते मिलेंगे। थोड़ी दूर पर भारत की व्यवस्थापिका-परिषद् का भवन दिखाई देता है। कुछ आगे चलने पर नीचे खडहठी के घुड़दौड़ के मैदान का एक अच्छा दृश्य दिखाई देता और ऊपर हिमाच्छादित चोटियों का दृश्य बहुत ही रमणीय दृष्टिगोचर होता है। आगे हमें सेसिल होटल मिलता है। यह एक विशाल भवन है। इसमें प्रायः बड़े-बड़े श्रीमान तथा अँगरेज़ ही ठहरते हैं। यहाँ से रास्ता

सीधा वाइसराय के भवन "वाइसरेगल लाज" की ओर जाता है। यह भवन आबजरवेटरी हिल (Observatory Hill) पर बनाया गया है। यह महल बड़ी सुन्दरता से सजाया गया है। इसके चारों ओर दूब लगाई गई है और यहाँ का बाग भी अच्छा है। इसके आस पास ही एक गिरजा तथा तीन मकान वाइसराय के ए० डी० सी० (A. D. C.) आदि के रहने के लिए बनाये गये हैं।

यहाँ से हम समरहिल की ओर प्रस्थान करते हैं। यह सड़क बड़ी सघन वृक्षों से ढकी हुई है। यहाँ से होते हुए समर हिल के रेल के स्टेशन पर जा निकलते हैं। इस स्थान की बस्ती कुछ समय से बहुत बढ़ गई है और यहाँ एक छोटे शहर सी बस्ती बस गई है। इनके सुभीते के लिए शिमला से समर हिल तक एक स्पेशल ट्रेन जाती है।

यहाँ से बाइलुगंज (Boileavganj) को दो सड़कें जाती है। दोनो सड़कें सुरम्य स्थान में होकर गुजरती हैं। यहाँ से एक राह जुतोग नामक पहाड़ी को जाती है। हम यहाँ से वापस लौटते हैं और वाइसरेगल लाज के पास होते हुए और पीटर हॉफ (Peterhoff) नामक मकान के नीचे होकर आगे चले जाते हैं। यह मकान कोई २६ वर्ष तक वाइसराय का निवासस्थान रह चुका है, और आजकल वाइसराय का वह मेम्बर जिसके हाथ में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा जमीन का विभाग है, यहाँ रहता है। यहाँ से आगे हम भारत सरकार के फॉरेन डिपार्टमेन्ट

के पास होकर चौरा मैदान पर निकल आते हैं। अब हम जिस राह से आये थे उसी राह से चले जाते हैं, किन्तु आगे जहाँ दो सड़कें फूटती है दाहिने हाथ की ओर मुड़ जाते हैं। तब हम इम्पीरियल बैंक के दफ़्तर के पास से निकलते हैं, और तार-घर के विशाल भवन के पास होकर हम फिर माल पर आ जाते हैं। यहाँ से बाईं ओर रास्ता लेकर हम पुनः रिज पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से हम रवाना हुए थे।

आपको मैंने सारी शिमला की हवा खिलादी।

परन्तु हम लोगों का वह यक्ष-लोक कहाँ है? हिमालय तो अभी तक ज्यों का त्यों खड़ा है।

> शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
> राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः।

पर वह लोक कहाँ है जहाँ न वार्द्धक्य है, न दुःख है, न मृत्यु है? मेघ तो प्रतिवर्ष हिमालय के पास आता है परन्तु क्या वह अब भी कोई सन्देश लाता है? दुःख और दारिद्र्य की ज्वाला से पीड़ित, पराधीनता और अपमान से क्षुब्ध भारत क्या हिमालय को कोई सन्देश नहीं भेजता?

[मई, १९२७ ई०

भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व
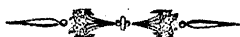
प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में एक ऐसी एकता पाई जाती है जो राजनैतिक परिवर्तनों के कारण भी भंग नहीं होती। यह एकता मानवीय स्वभाव में पाई जाने वाली समानता के आधार पर स्थित है। राष्ट्र में समय-समय पर होनेवाली क्रांतियां, उत्थान-पतन तथा अन्य महान् परिवर्तन मानव-स्वभाव के प्रस्फुटन के ही उदाहरण-मात्र हैं। प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में सर्वदा मध्यगामिनी (Centripetal) तथा मध्योत्सारिणी (Centrifugal) प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रमाण में पाई जाती हैं। उनके प्रमाण में विभिन्नता ही राष्ट्र में परिवर्त्तन तथा क्रांतियों का कारण होती हैं। किन्तु ये दोनों प्रवृत्तियाँ राजनैतिक क्षेत्र में मानवीय स्वभाव-वैचित्र्य तथा उसकी भिन्न-भिन्न इच्छाओं के प्रदर्शन-मात्र हैं। अतएव उनके प्रकट होने से राष्ट्रीय इतिहास में पाई जाने वाली एकता में किसी प्रकार बाधा उत्पन्न नहीं होती।

राष्ट्रीय इतिहास में एकता

राष्ट्र का प्राधान्य तथा जातियों का प्राधान्य—वे दो विभिन्न आदर्श ही दोनों विरोधिनी प्रवृत्तियों के कारण होते हैं। भिन्न जातियाँ जब संगठित होकर एक राजनैतिक स्वरूप ग्रहण करती हैं तब वे एक राष्ट्र का निर्माण करती हैं, और राष्ट्र के उत्थान के साथ ही जातियों का राजनैतिक महत्त्व घट जाता है। परन्तु जब-जब जातियाँ स्वयं संगठित होकर अपना अस्तित्व अलग-अलग स्थापित करती हैं तथा अपना प्राधान्य बनाए रखने का प्रयत्न करती हैं, तब-तब जातियों का उत्थान होता है, और यह मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति राष्ट्र के अस्तित्व को नगण्य बना देती है। राजनैतिक क्षेत्र में राष्ट्र तथा जातियों का सापेक्ष्य महत्त्व ही इतिहास में एक या दूसरी प्रवृत्ति का महत्त्व स्थापित करता है।

राष्ट्र और जाति

ये दोनों प्रवृत्तियाँ प्रायः सर्वत्र पाई जाती हैं। प्रत्येक राष्ट्र तथा देश के इतिहास में उनके अस्तित्व का आभास मिलता है। भारतीय इतिहास में ही नहीं, किन्तु युरोपीय इतिहास में भी ये दोनों प्रवृत्तियाँ समय-समय पर प्रकट हुई हैं। किंतु भारत में युरोप की अपेक्षा मध्यगामिनी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। रोमन साम्राज्य के नष्ट होने के बाद युरोप का एक सुसंगठित साम्राज्य युरोपीय राजनीतिज्ञों के लिए एक स्वप्नमात्र रह गया। और कुछ शताब्दियों से तो राष्ट्रीय संगठन का आदर्श ही बदल गया है। किंतु भारत में तो 'सार्वभौम राज्य' तथा 'चक्रवर्ती राजा' की धारणा बहुत ही पुरानी है। जब-जब

भारत में उपयुक्त राजनैतिक परिस्थितियाँ प्रकट हुईं, तथा जब-जब सुयोग्य महान् शासकों ने भारतीय रंगमंच पर पदार्पण किया, तब-तब भारत में बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। इसके विपरीत जब-जब राष्ट्रों के राजनैतिक जीवन में पतन हुआ, तथा ज्यों ही पतनोन्मुख साम्राज्य में महान् सम्राटों का अभाव पाया गया मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति प्रकट हो गई।

दोनों प्रवृत्तियों के अध्ययन की आवश्यकता

इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी प्रवृत्तियों को जानने के लिये केवल मध्यगामिनी प्रवृत्ति के अध्ययन से ही काम नहीं चलता। प्रायः इतिहासकार केवल मध्यगामिनी प्रवृत्ति पर ही ध्यान देते हैं; क्योंकि उनके लिये राष्ट्र-निर्माण ही एक महत्त्व की घटना होती है। राष्ट्र-भंग भी एक बड़ी घटना है, किन्तु प्रायः उन प्रवृत्तियों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता जो राष्ट्र-भंग में सहायता देती हैं। परन्तु मेरे विचारानुसार तो यह अत्यावश्यक है कि मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना मध्यगामिनी प्रवृत्ति का। यदि एक राष्ट्रनिर्माण में सहायता देती है, तो दूसरी उसी राष्ट्र का विध्वंस करती है। साथ ही इतिहास का अध्ययन केवल उसमें लिखी गई घटनाओं के कारण ही महत्त्व का नहीं है; इतिहास का सबसे महान् लाभ तथा उपयोग यह है कि वह भविष्य के लिये पथ-प्रदर्शक हो। और आज जब पुनः नवीन राष्ट्र-निर्माण के लिये प्रयत्न किए

जा रहे हैं, तब मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है; क्योंकि तभी हम ऐसा राष्ट्र-निर्माण कर सकेंगे जिसमें आज तक पाई जानेवाली समग्र कुप्रवृत्तियों का अभाव हो।

भारतीय इतिहास में सम्राट् हर्ष के बाद हिन्दू-भारत का पतन हुआ, और कोई छः शताब्दी तक, जब मुसलमानों ने भारत-विजय की, मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का एकछत्र शासन रहा[1]। आधुनिक भारत के लिये उन दिनों का इतिहास विशेषरूपेण अध्ययनीय है। हिन्दू-भारत का पतन संसार के इतिहास की एक विशिष्ट घटना है और इस युग के अंतिम दिनों में राजपूत ही भारतीय राज्यों पर शासन करते रहे। स्मिथ के मतानुसार यह युग 'राजपूत-काल' के नाम से कहा जाना चाहिए।[2] राजपूतों की राजनीति में मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का प्राधान्य था।[3] राजनैतिक दृष्टि से इस काल में राजाओं के 'दैवी अधिकार' के सिद्धांत का प्राधान्य था। राजाओं का शासन एक-सत्तात्मक था, प्रजा का

१—विंसेंट स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया'—तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३५६-७

२—विंसेंट स्मिथ—'आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया'—सन् १९२० का संस्करण; पृष्ठ १७२

३—प्रोफेसर ईश्वरीप्रसाद—'मेडीवल इण्डिया'—द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ ११

उसमें कोई भी हाथ न था।[१] किन्तु साथ ही इन राज्यों के संगठन में जागीर प्रथा की प्रधानता थी।[२] राज्यों में राजनैतिक एकता नहीं पाई जाती थी। बड़े-बड़े राज्यों में प्रायः अनेकानेक छोटे राजा थे, जो उस बड़े राज्य की अधीनता स्वीकार करते थे। मध्य-कालीन हिन्दू-भारत में जब कोई राज्य या देश जीते गए तब केवल वे देश या राज्य अधीन कर लिए गए। उस समय की विजयों से यह मतलब नहीं था कि वे देश राज्य में पूर्णतया सम्मिलित कर लिए जायँ[३]। जो देश राजा के अधीन होते थे, वे 'खालसा' कहलाते थे; उनके शासन की देख-रेख प्रायः राजा ही करते थे। किन्तु जो कर्मचारी काम करते थे, उनका वेतन प्रायः जागीरें देकर चुकाया जाता था।[४] राज्यों का सैनिक संगठन भी जागीर-प्रधान हो गया था। स्थायी सेना रखने की प्रथा घटती जाती थी। जागीरदारों द्वारा भेजी जानेवाली सेना से

हिन्दू-भारत का पतन—"राजपूत-काल"—मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति का प्राधान्य

१—चिंतामणि विनायक वैद्य—'हिस्ट्री आफ़ मेडीवल हिन्दू इण्डिया'—भाग १, पृष्ठ १२१-२; भाग २, पृष्ठ २२०-१

२—ई० प्र०—'मे० इं०'—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३५

३—वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—पृष्ठ २२१, २२९

४—ई० प्र०—'मे० इं'—द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३५

वैद्य—'हि मे० हिं इं०'—भाग २, पृष्ठ २४५

ही राज्यों का काम चलता था।[1] इस प्रकार तत्कालीन राज्यों का संगठन ही ऐसा हो गया था कि उसमें राज्यों की आंतरिक शक्ति घट गई। राज्यों की शक्ति घटने के परिणाम केवल दो ही हो सकते थे—राज्य में अराजकता का होना, या उस राज्य का दूसरी किसी सत्ता के अधीन होना।

किन्तु यह मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति केवल राज्यों के संगठन में ही प्रदर्शित नहीं होती। उन भिन्न-भिन्न राज्यों में निरन्तर युद्ध होता रहता था,[2] और यद्यपि उन राजघरानों के संमिलित तथा संगठित होने के अनेकानेक कारण विद्यमान थे,[3] तथापि हिन्दू-भारत के बैरी मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये वे संगठित न हो सके। निरन्तर आपसी युद्ध तथा एकता के अभाव से भी ये राज्य निर्बल हो गए,[4] और यही कारण है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की प्रायः सदैव विजय हुई।

"इतिहासकार सर्वदा राजपूतों के पतन का एक प्रधान कारण यह बताते हैं कि वे सर्वदा आपस में लड़ा करते थे। राजपूत-राजघराने आपस में इसलिये नहीं लड़ते थे कि वे अपना राज्य बढ़ा सकें, प्रत्युत उनका उद्देश्य केवल अपनी महत्ता स्थापित

१—वैद्य—'हि० मे० हिं० ई०'—भाग २ पृष्ठ २४२-३
गौरीशंकर हीराचंद ओझा—'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'—पृष्ठ १६२

२—वैद्य—'हि० मे० हिं० ई०'—भाग २, पृष्ठ २२५

३—वैद्य—'हि० मे० हि० ई०'—भाग २, पृष्ठ २२७-८

४—वैद्य—'हि० मे० हिं० ई'—भाग ३, पृष्ठ ४४६

करना ही होता था। इस समय भी (ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में) पृथ्वीराज, गुजरात और बुन्देलखंड तथा कन्नौज के बड़े-बड़े तीन पड़ोसी राज्यों पर, चढ़ाई कर रहा था। इन लड़ाइयों में युरोपीय युद्धों के समान भीषण मार-काट होती थी, और दोनों ओर बड़ी क्षति भी होती थी। इसी कारण उत्तरी भारत के चार बड़े-बड़े शक्तिशाली राजघरानों—चौहान, राठौड़, चंदेल और सोलंकी—के योद्धाओं की संख्या बहुत घट गई थी, और अन्त में जब चारों के साथ एक-एक करके मुसलमानों ने युद्ध किया तब चारों की हार हुई। आपसी युद्ध ही राजपूतों का सबसे बड़ा दोष रहा है।......सारे भारत पर आनेवाली विपत्ति को रोकने के लिये भी उन्होंने गृह-कलह छोड़कर संगठन नहीं किया और इसी कारण उनका पतन हुआ।"[१]

इस प्रकार मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति के कारण हिन्दू-भारत का पतन हुआ। साथ ही, राजपूतों के स्वतंत्र राज्य भी विनष्ट हुए और उत्तरी भारत में मुसलमानों के साम्राज्य की नींव पड़ी।

राजपूतों के इतिहास में मध्यगामिनी प्रवृत्ति।

किन्तु इसी बात के आधार पर यह कहना कि राजपूतों में मध्यगामिनी प्रवृत्ति का पूर्ण अभाव था, उनके प्रति अन्याय करना है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि दोनों प्रवृत्तियाँ

१—वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०—भाग ३, पृष्ठ ३६१-२

ई० प्र०—'मे० इं'०'—द्वतीय संस्करण, प्रस्तावना, पृष्ठ १४

सर्वदा पाई जाती हैं। यह कभी नहीं होता कि केवल एक ही प्रवृत्ति पाई जाय और दूसरी का पूर्ण अभाव हो। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कभी एक का प्राधान्य हो तो कभी दूसरी का; किन्तु एक की विद्यमानता में दूसरी का अस्तित्व भी अवश्य मानना पड़ेगा।

राजपूतों का इतिहास, उसमें पाई जानेवाली प्रवृत्ति के कारण ही, प्रसिद्ध है। किंतु यदि सूक्ष्मरूप से उनके इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा कि उनके इतिहास में मध्यगामिनी प्रवृत्ति भी पूर्णरूप से विद्यमान है, चाहे वह गौण ही क्यों न हो। राजपूतों के इतिहास का महत्त्व उसमें गौणरूप से पाई जानेवाली इसी मध्यगामिनी प्रवृत्ति के ऊपर स्थित है। प्रथम तो ये राज्य विनष्ट होने से पहले स्थित थे। इनका शासन ठीक रीति से चला जा रहा था। अतएव इनका कई शताब्दियों तक स्थित रहना ही इनमें इस प्रवृति-विशेष के अस्तित्व का प्रमाण है। यह सच है कि उन प्रारंभिक दिनों में राजपूतों का इतिहास गृह-युद्ध तथा राष्ट्रीय एकता के विचारों के अभाव से कलुषित है, और जैसा कि ऊपर कहा गया है, राजपूतों का पतन इन्हीं दोनों दोषों के कारण हुआ; किंतु साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि राजपूत जाति विनष्ट नहीं हुई। मुसलमानों से पराजित होकर उन्होंने गंगा-यमुना तथा सिन्धु के उपजाऊ मैदानों को छोड़ अरावली, बुन्देलखण्ड आदि की पहाड़ियों और

रेतीले रेगिस्तान में जाकर अपना अड्डा जमाया।[१] उन मैदानों और सुदूर घाटियों में राजपूतों ने अपनी सत्ता पुनः स्थापित की—नए राज्यों का निर्माण किया—हिन्दू आदर्शों और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-सभ्यता को प्रश्रय दिया। इस प्रकार राजपूतों का इतिहास हिन्दू-भारत के पतन का ही इतिहास का नहीं है, प्रत्युत वह राजपूतों और हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्तियों के पुनः संघटन का विवरण भी है। राजपूतों में इस समय मध्यगामिनी प्रवृत्ति प्रथम बार प्रबल हुई, और प्रारंभिक उत्थान के बाद प्रथम बार राजपूतों की नीति में क्रियात्मक कार्यक्रम का आभास दिखाई दिया।

किन्तु खेद का विषय है कि भारतीय इतिहासकार राजपूतों के इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण काल को भुला देते हैं। विक्रम-संवत् १२५० के बाद भारत का जो इतिहास लिखा गया है वह प्रायः मुसलमानों के राज्य का इतिहास है। वे उस महान् हिन्दू-समाज के इतिहास की ओर ध्यान नहीं देते जो पतित होकर भी इस नवीन मुस्लिम सभ्यता एवं संस्कृति का सफलतापूर्वक सामना कर रहा था।

राजपूतों ने हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करके संगठित किया और पुनः मुसलमानों का सामना करने के लिये तैयार हुए। जितना रोचक दिल्ली के मुस्लिम साम्राज्य के उत्थान

१—वैद्य—'हिं० मे० हिं० इं०'—भाग ३, पृष्ठ० ३६५

का वर्णन है, उससे भी अधिक रोचक राजपूतों के इस पुनः-संघटन का वर्णन होगा। "जहाँ राजपूतों से भी अधिक शक्तिशाली प्राचीन भारतीय राजघराने विनष्ट हो गए, वहीं यद्यपि राजपूत-राज्यों की सत्ता घट गई है और उनका पुराना वैभव अब विद्यमान नहीं है, तथापि आज वे राज्य स्थित हैं।"[1] इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि जहाँ राजपूतों के विजेता मुसलमानों के साम्राज्य स्थापित हो-होकर विनष्ट हो गए—राजपूतों से छीने गए दिल्ली के जिस सिंहासन पर अनेक मुसलमान घरानों ने राज्य किया और फिर कुछ ही दिनों में उनकी सत्ता तथा शक्ति का अंत हो गया और उनके वंशजों का नाम-निशान तक न रहा—वहीं उसके विपरीत उन्हीं दिनों में पराजित राजपूतों द्वारा नए स्थापित किए गए राजपूत-राज्य आज भी स्थित हैं और वे ही राजपूत-राजघराने उन्हीं राज्यों पर आज भी राज्य कर रहे हैं। "सारे संसार के राजघरानों में, राजपूत-राजघरानों के अतिरिक्त, आज कोई राजघराना ऐसा नहीं मिलता जो नवीं शताब्दी या उससे कुछ पहले स्थापित होकर अखंडरूपेण आज तक चला आया हो।"[2]

इस प्रकार राजपूतों की उस मध्यगामिनी प्रवृत्ति ने उन्हें केवल पुनःसंघटन करने में ही सहायता न दी, प्रत्युत उसी के

---

१. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४

२. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४

फलस्वरूप वे अपना अस्तित्व भी बनाए रख सके। राजपूत-राज्यों में जो यह स्थायित्व पाया जाता है, वह संसार की सभ्यताओं के इतिहास का अध्ययन करनेवालों के लिये एक महत्व की बात है। जो इतिहासकार राजपूतों में पाई जानेवाली मध्योत्सारिणी प्रवृत्ति की ओर ही निर्देष करते हैं और मध्यगामिनी प्रवृत्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके लिये राजपूतों के राज्यों का एक हजार वर्षों का यह अखंड अस्तित्व एक अनबूझ पहेली ही रहेगा। संसार के इतिहास में अनेक राज्यों और साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन का ब्योरा पाया जाता है—अनेक जातियों के शौर्य तथा शासन-नैपुण्य का वर्णन लिखा गया है; किंतु शताब्दियों तक भारतीय मुस्लिम साम्राज्य की-सी शक्ति का सामना करके तथा निरंतर युद्ध एवं विरोध के फलस्वरूप क्षति और आघातों को सहन करके किसी भी जाति ने अपना अस्तित्व बनाए रक्खा हो—किसी भी जाति या देश ने अपना राजनैतिक स्वातंत्र्य ही नहीं, अपनी संस्कृति, अपना धर्म, अपनी शासन-प्रणाली आदि बनाए रक्खा हो, ऐसा राजपूतों के अतिरिक्त दूसरा कोई उदाहरण ढूँढे नहीं मिलता।

सर जेम्स टाड लिखते हैं—"शताब्दियों के भयंकर अत्याचार तथा विरोध के बाद भी जिस प्रकार राजपूतों ने अपनी सभ्यता, अपने पूर्वजों के आचार-विचार तथा उनके शौर्य को बनाए रक्खा, उसी दशा में संसार की कोई दूसरी जाति उसका

लक्षांश भी बनाए रख सकती थी, ऐसा संभव नहीं दिखाई पड़ता।.........मनुष्य द्वारा मनुष्य पर बर्बर से बर्बर जो अत्याचार किए जा सकते हैं उन्हें सहने के बाद भी, तथा जिसका धर्म पूर्ण संहार का समर्थन करता हो—अपने ऐसे विरोधी की शत्रुता का सामना करके भी, जिस प्रकार राजपूतों ने अपना धैर्य बनाए रक्खा—आपत्ति के समय झुक गए और उनके निकल जाने के बाद पुनः उठ खड़े हुए, और जिस प्रकार अपनी साहस-रूपी तलवार को विपत्ति-रूपी सान पर अधिकाधिक तेज किया, मानव-जाति के इतिहास में राजस्थान के राजपूत ही उसके एकमात्र उदाहरण हैं। रोमनों के आक्रमण से ब्रिटन लोग किस प्रकार एकाएक झुक गए—कुञ्ज और ड्रुइडों तथा बाल की वेदियों को बचाने के प्रयत्न में वे कितने विफल हुए! सेक्सन लोगों के सामने भी वे उसी प्रकार विफल हुए, और बाद में डेनों के सामने भी। अंत में ये सब विजयी तथा विजित, नार्मन लोगों में मिल गए। एक ही युद्ध में साम्राज्य बन गए और मिट भी गए! विजितों के आचार-विचार और धर्म, विजयी के धर्म तथा आचार-विचार के साथ संमिलित होगए। इसके विपरीत राजपूतों को देखिए। यद्यपि देश का बहुत बड़ा भाग उनके हाथ से निकल गया, तथापि उनके धर्म तथा आचार-विचार आदि अब तक बने हुए हैं।......एक मेवाड़ ही उस धर्म का पवित्र आश्रय-स्थल बना रहा। उन्होंने अपने सुख के लिये अपने संमान में कमी न आने दी और

फिर भी आज वह राज्य पूर्ववत ही बना है। वीर समरसी (समरसिंह) के प्रथम बलिदान के समय से इस वीर-घराने के राजाओं तथा राजपुत्रों ने अपना संमान, धर्म और स्वातंत्र्य बनाए रखने के लिये पानी तरह रुधिर बहाया है।"[१]

वह कौन-सी विशेषता थी जिसके कारण आज भी राजपूत-जाति तथा राजपूत-राज्य स्थित हैं? राजपूतों के जातीय जीवन में ऐसी कौन-सी स्थायी शक्ति है जिससे वे, शताब्दियों तक राजनीतिक जीवन के भीषण धक्के सहन करते हुए, ऐसे महान् विरोधी का सफलतापूर्वक सामना कर सके? ये ही वे महान प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना प्रत्येक सच्चे इतिहासकार का कर्त्तव्य है। नवीन राष्ट्र के निर्माताओं के लिये तो इन प्रश्नों के उत्तर जान लेना अत्यावश्यक है; क्योंकि इन प्रश्नों के उत्तर जान लेने के बाद ही वे मानवीय जीवन तथा विशेषतया राजनैतिक संगठनों में निहित स्थायी तत्त्वों को जान सकेंगे, और नए राष्ट्र के निर्माण में उनको स्थान देकर अपने राष्ट्र को स्थायित्व प्रदान कर सकेंगे। वैद्य जी के विचारानुसार "राजपूतों में पाया जानेवाला यह स्थायित्व ही उन्हें भारतीय इतिहास में समुचित स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त है।"[२]

१—कर्नल जेम्स टॉड—'एनल्स एंड एंटिक्विटीज़ आफ़ राजस्थान'—क्रुक्स द्वारा संपादित, खण्ड १, पृष्ठ ३०३

२—वैद्य—'हि० मे० हिं० इ०'—भाग २, पृष्ठ ४

राजपूतों ने पुनः संगठन किया तथा नए राज्य स्थापित किए; किन्तु साथ ही वे भारतीय संस्कृति के भी एकमात्र अवशेष थे। मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही हिन्दू-भारत का पतन हुआ। उन दिनों हिन्दुओं में राजपूत ही शासक तथा संरक्षक थे। जातियों के बँधन कड़े हो जाने के कारण शासन आदि का भार राजपूतों पर ही आ पड़ा था। सामान्य लोगों का इन बातों से कोई विशेष संबंध न था।[1] शासन-संगठन, शासकों तथा राज्य से प्रजा ने पूर्ण संबंध विच्छेद हो गया था। यही कारण है कि प्रजा ने हिन्दू राजाओं के पतन के बाद मुसलमान शासकों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया; क्योंकि उनके विचारानुसार शासक की नियुक्ति ईश्वर करता था।[2] अतएव जब हिन्दू शासकों का पतन हुआ और राजपूतों ने उत्तरी भारत के मैदानों को छोड़ा, तब वहाँ की प्रजा निस्सहाय हो गई—उसका कोई संरक्षक न रहा। "उत्तरी भारत में कोई जातीय जागृति तथा विरोध न था, अतएव सर्वदा के लिये उसका पूर्ण पतन हुआ और मुसलमानों का आधिपत्य

हिंदू-धर्म, भारतीय संस्कृति तथा राजपूत

१—वैद्य—'हि० ई० हिं० ई०', भाग १, प्रस्तावना-पृष्ठ ५, पृष्ठ १२१-२; भाग ३, पृष्ठ ३६३, ४५१-२

२—वैद्य—'हि० मे० हिं०; भाग १, पृष्ठ १२५ ई० लेनपूल—'मेडीवल इंडिया' पृष्ठ ६०

स्थापित हो गया।'[1] यह सत्य है कि दोआब, काटेहार आदि के राजपूतों ने यदा-कदा विद्रोह किए, किन्तु उनका कोई महान् राजनीतिक परिणाम न हुआ।[2] अतएव प्राचीन भारतीय संस्कृति उसकी संस्थाओं, कला आदि को सुरक्षित रखने वाला—उनका संरक्षण करके पुनरुत्थान करनेवाला—उत्तरी भारत में कोई न रहा।

राजपूतों ने मुसलमानों के आक्रमण-काल में भी अपनी सभ्यता आदि बनाए रखने का प्रयत्न किया था।[3] और, जब वे अपनी रही-सही शक्तियों को संगठित कर नवीन राज्य स्थापित करने लगे, तब वे अपनी सभ्यता, शासन-शैली, धर्म, आचार-विचार आदि सब कुछ अपने साथ ले गए। हिन्दू-भारत का, विशेषतया उत्तरी भारत का, जो कुछ भी शेष रह था, वह राजस्थान में संचित हुआ। राजपूत हिन्दू-भारत की प्राचीन सभ्यता के संरक्षक बने और इसी कारण वे मध्यकालीन भारतीय इतिहास में एक विशेष अध्ययन के विषय हैं। राजस्थान में ही प्राचीन स्थापत्य तथा चित्र-कला का—यद्यपि वह नवीन प्रभावों से प्रभावित हुई—पुनः प्रस्फुटन हुआ। सारे राजस्थान में जितने पुराने मंदिर, भवन तथा किले पाए जाते

१—वैद्य—'हि० मे० हि० इं०'; भाग ३, पृष्ठ ३६५

२—'कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', खंड ३, पृष्ठ ५१४-५

३—हैवेल—हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इंडिया', पृष्ठ २६०-१

हैं, वे प्रायः इन्हीं प्रारम्भिक दिनों के हैं। चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ, दिलवाड़े के मन्दिर, जैसलमेर के राजभवन आदि भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने हैं और इनका श्रेय राजपूतों को ही है। राजपूतों ने ही उन प्रारम्भिक दिनों में भारतीय कला के विशुद्ध रूप की रक्षा की। पुनः राजपूतों के ही प्रश्रय में चित्र-कला की वह शैली प्रकट और विकसित हुई जो 'राजपूत-कला' कहलाती है और जहाँ की 'जयपुर-कलम' सुप्रसिद्ध है। पर्सी ब्राउन के विचारानुसार "यह चित्रांकण-शैली भारतीय चित्रण-कला में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।"[1] "साहित्य के क्षेत्र में भी राजपूत राजाओं की राजसभाओं में बहुत कुछ कार्य हुआ है। समयानुकूल चारणों ने डिंगल तथा हिन्दी के प्रारंभिक स्वरूप में वीर-काव्यों की रचना की। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के गुणों का वर्णन किया तथा इतिहास-काव्य भी लिखे।"[2] और, पिछले दिनों में जब 'रीति-काल' आया तब भी 'केशव' और 'बिहारी' सरीखे महाकवियों को अपने दरबार में रखने का श्रेय राजपूत-

---

१—पर्सी ब्राउन—'इंडियन पेंटिंग' पृष्ठ ८

२—श्यामसुन्दरदास—'हिन्दी-भाषा और साहित्य'—पृष्ठ २६८-३०४

रामचन्द्रशुक्ल—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ १९-५३

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ २८-३०, ४६-८६

सूर्यकांत शास्त्री—'हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' पृष्ठ ९-१६, २७-३४

नरेशों को ही है। पुनः जब वीर-काव्य का द्वितीय उत्थान हुआ तब 'भूषण' आदि कवियों को छत्रसाल आदि राजपूत-नरेशों ने ही उत्तेजना दी। यही नहीं, राणा कुम्भा, राजा पृथ्वीराज, महाराजा जसवंतसिंह और महाराज छत्रसाल-जैसे वीर नरेशों ने स्वयं भी साहित्य-सेवा की थी।

किन्तु इन सबसे अधिक आदरणीय वस्तु—जो राजपूतों ने भारत को प्रदान की तथा जिस पर केवल राजपूतों को ही नहीं, वरन् सारे भारत को गौरव हो सकता है—उनके स्वातंत्र्य-युद्ध की कथा है। राजपूतों का यह स्वातंत्र्य-युद्ध भारत के ही नहीं, प्रत्युत संसार के इतिहास में एक अद्भुत वस्तु है। टॉड साहब लिखते हैं—"अपने पूर्वजों का धर्म बचाने के लिए—तथा सर्व प्रकार के प्रलोभनों को तोड़कर अपने अधिकार और जातीय स्वातंत्र्य को सुरक्षित रखने के लिये—जो वीर मृत्यु को गले लगाने से नहीं हिचके, शताब्दियों तक की उनकी स्वातंत्र्य-युद्ध की कथा पढ़कर रोमांच हुए बिना नहीं रहता।"[१]

राजपूतों का स्वातंत्र्य-युद्ध

यह स्वातंत्र्य-युद्ध एक-दो साल का ही न था। यह कई शताब्दियों तक चलता रहा। जिस दिन प्रथम बार राजपूतों

१—टॉड—'एनल्ज एण्ड एन्टिक्विटीज़ आफ़ राजस्थान'—क्रुक्स द्वारा संपादित, खंड १, पृष्ठ ६३-६४

को हराकर मुसलमानों ने भारत-भूमि में अपना साम्राज्य स्थापित किया, उसी दिन से यह स्वातंत्र्य-युद्ध प्रारंभ हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि मुसलमानों को भारत में किसी प्रकार के राष्ट्रीय विरोध का सामना न करना पड़ा,[1] तथापि इस तत्व के साथ-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि हिंदू-भारत के शासक राजपूतों ने पूर्ण साहस के साथ मुसलमानों का सामना किया। राजपूतों में एकता न थी, किन्तु उनकी वीरता के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा जा सकता। राज्य-के-राज्य जागीरों में विभक्त थे, किन्तु प्रत्येक बिस्वा भूमि का कोई न कोई स्वामी अवश्य था, जो उसके लिये लड़ने को उद्यत रहता था। यही कारण है कि केवल राजस्थान की ही नहीं, बल्कि सारे उत्तर-पश्चिमी भारत की भूमि का प्रत्येक कण राजपूतों के उष्ण रुधिर से सींचा गया है। प्रत्येक राह में पहले राजपूत कट-कटकर गिरे हैं—हिन्दुओं और मुसलमानों के रक्त की नदियाँ बही हैं, तब कहीं मुसलमान आगे बढ़ सके हैं। इस बहादुर और कट्टर जाति ने अपना ख़ून बहा-बहाकर अपने अस्तित्व को कायम रक्खा है। पराधीनता के उन अंधकार-पूर्ण दिनों में, जब प्रथम बार हिन्दुओं ने अपना स्वातंत्र्य खोया था, राजपूतों ने ही स्वातंत्र्य की पुनः-प्राप्ति के आदर्श की झिलमिलाती हुई लौ को प्रज्वलित रखने के लिये अपना रुधिर बहाया था।

१—वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०'—भाग १, पृष्ठ ५, १२३; भाग ३, पृष्ठ २१४-६

अपने रुधिर की आहुतियाँ देकर राजपूतों ने ही हिन्दू-जाति को जीवन प्रदान किया, जिसके लिये भारत ही क्यों, संसार-भर को राजपूतों का ऋणी होना चाहिए।

अपने शत्रुओं से घिरे रहकर भी, तथा पराधीनता की उमड़ती हुई काली घटा को देख-देखकर भी, यह जाति जीवित रही है। पराधीन रहकर भी इस जाति ने आश्चर्यजनक रीति से अपना स्वातंत्र्य बनाए रक्खा है। और उसके लिये राजपूतों ने क्या-क्या बलिदान नहीं किया? स्वतंत्रता की वेदी पर जो-जो बलिदान राजपूतों ने किए, वे संसार के इतिहास में अपूर्व हैं। राजस्थान का एक-एक किला अनेक महत्त्वपूर्ण स्मृतियों का भांडार है। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियों और बच्चों तक ने आत्मत्याग किया, शौर्य तथा साहस के अपूर्व उदाहरण उपस्थित किए। स्वातंत्र्य-युद्ध की स्मृतियों का पुंज—केवल राजपूतों का ही नहीं, बल्कि प्रत्येक स्वातंत्र्य-प्रेमी का अपूर्व तीर्थ—वह चित्तौड़ का किला राजस्थान के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। ओझा जी के शब्दों में—"यहाँ असंख्य राजपूत-वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये अनेक बार असि-धारा-रूपी तीर्थ में स्नान किया, और यहाँ कई राजपूत-वीरांगनाओं ने सतीत्व-रक्षा के निमित्त 'जौहर' की धधकती हुई अग्नि में कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल-बच्चों-सहित प्रवेश कर जो उच्च आदर्श उपस्थित किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किन्तु प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी हिन्दू-संतान के लिये क्षत्रिय-

रुधिर से सींची हुई यहाँ की भूमि के रज:कण भी तीर्थरेणु के तुल्य पवित्र हैं।"[1] पुनः टॉड के कथनानुसार "राजस्थान में कोई ऐसा छोटा राज्य भी नहीं है जिसमें थर्मोपोली जैसी रणभूमि न हो, और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जिसमें लियोनिडास-जैसा वीर पुरुष न हुआ हो।"[2] इसी राजस्थान में महाराणा प्रताप ने अपने जीवन भर अकबर का सामना किया। महाराणा का कोई साथी न था; अन्य राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ संधि कर ली थी; किन्तु महाराणा ने सिर न झुकाया, अधीनता स्वीकार न की। "अरावली की पर्वत-श्रेणी में कोई ऐसी घाटी नहीं है जो महाराणा की वीरता से पवित्र न हुई हो। यदि किसी में उनकी विजय-दुंदुभी बजी हो, तो प्रायः अन्य सब उनकी वीरता-पूर्ण पराजयों की दर्शक रही होगी। हल्दीघाटी ही मेवाड़ की थर्मोपोली है, और देवारी ही मारेथान है।"[3] और इसी हल्दी-घाटी में हारकर भी महाराणा जीते।[4] इस युद्ध ने उनको अमर

१—गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इतिहास'—जिल्द १, पृष्ठ ३४९

२—टाड—'ए० एण्ड ए० राज०'—क्रुक्स-सं०, खं० १, पृष्ठ ६३

३—टाड—'ए० एण्ड ए० राज०'—क्रुक्स-सं०, खंड १, पृष्ठ ४०६-७

४—हल्दीघाटी के युद्ध का क्या परिणाम हुआ, इसके विषय में इतिहासकारों का मतभेद है। किन्तु प्रायः यही माना जाता है कि राजपूत ही हारे। देखिये—गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा-लिखित 'राजपूताने का इतिहास', जिल्द २, पृष्ठ ७४५-७५५

कर दिया। किन्तु विजयी होकर भी अकबर उनके समान पूजनीय न बन सका। पुनः हारकर भी महाराणा हारे नहीं, और तभी उनकी मृत्यु पर सम्राट् अकबर ने भी स्वीकार किया कि—"गहलोत राण जीति गयो"[१]।

इसी प्रकार, जब दक्षिणी भारत में राष्ट्रीय पुनरुत्थान तथा जातीय विरोध का सूत्रपात हुआ,[२] तब शताब्दियों के योद्धा राजपूतों ने स्वातंत्र्य-ज्योति का वह जाज्वल्यमान दीपक मरहठों को दे दिया। "भारतीय इतिहास में स्वधर्म तथा स्वराज्य के अंतिम समर्थक शिवाजी इसी मेवाड़ के सिसोदियों के वंशज थे। उन्होंने दक्षिण में मुसलमानों के साथ युद्ध किया, पुनः मरहठों को स्वतंत्र बनाया और हिन्दू-धर्म की स्थापना की।"[३] राजपूतों का पतन हुआ सही, किन्तु उन्होंने भारतीय स्वातंत्र्य का महान् आदर्श अक्षुण्ण रक्खा। हिन्दुओं के संमुख यह आदर्श उपस्थित कर अपने बलिदानों द्वारा उनमें जीवन बनाए रखना ही मध्यकाल में राजपूतों का सबसे महान् तथा इतिहास में उल्लेखनीय कार्य है। इसी कारण वैद्य जी का मत है कि "जो आदर

१—गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०', जिल्द २, पृष्ठ ७७९-८१

२. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०', भाग ३, पृष्ठ ३६५-६

३. वैद्य—'हि० मे० हिं० इं०', भाग २, पृष्ठ ५
गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इतिहास', जिल्द १, पृष्ठ २७९-८०; जिल्द २, पृष्ठ १३८६-७

राजपूतों को दिया जाता है, उससे कहीं अधिक आदर के वे पात्र हैं। सच पूछा जाय तो राजपूतों की वीरता तथा उनके पौरुष का ठीक-ठीक महत्त्व अभी तक हम नहीं जान पाए हैं।"[1]

किन्तु इस त्रुटि के लिये कौन उत्तरदायी है? क्या कारण है कि राजपूतों के इतिहास का ठीक-ठीक महत्त्व अभी तक नहीं कूंता गया है? भारत के मध्यकालीन इतिहास में राजपूतों के इतिहास के सम्बंध में कुछ ही पृष्ठ लिखकर क्यों इतिहासकार संतोष कर लेते हैं? इन सब प्रश्नों का केवल यही एक उत्तर दिया जा सकता है कि राजपूतों का ठीक-ठीक इतिहास अभी तक लिखा ही नहीं गया। जिन-जिन इतिहासकारों ने इस विषय पर ग्रंथ-रचना की है, उनके प्रति राजपूत-जाति ही नहीं, किंतु भारतीय राष्ट्र भी कृतज्ञ हैं; क्योंकि उन्होंने राजपूत-जाति की ऐसी सेवा की है कि यह जाति उनसे कभी उऋण नहीं हो सकती। ऐसे इतिहासकारों में दो व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम तो सर जेम्स टॉड का नाम लिया जाना चाहिए। वे अंगरेजों के पोलिटिकल विभाग में नौकर थे, और राज्यस्थान में भेजे गए थे। अपनी नौकरी के उस काल में उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ राजपूतों के प्राचीन इतिवृत्त का शोध किया, समस्त राजस्थान में भ्रमण किया और उस बृहत् ग्रंथ

राजपूतों के इतिहास पर आधुनिक ग्रन्थ

---

१. वैद्य—'ह० मे० हिं० इं०'—भाग २, पृष्ठ ४

की रचना की जो "एनल्ज एंड एंटिक्विटीज आफ राजस्थान" के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही राजपूत वीरों की कीर्त्ति, जो पहले भारतवर्ष में सीमाबद्ध थी, भूमंडल में फैल गई।[1] फिर कोई एक शताब्दी के बाद राजपूतों के इतिहास पर दूसरे विद्वान—महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर-हीराचंद ओझा—ने लेखनी उठाई। ओझा जी अपना सारा जीवन राजपूतों के इतिहास की खोज में बिता कर अब "राजपूताने का इतिहास" लिखने लगे हैं। यह ग्रंथ अभी अपूर्ण है, किन्तु संपूर्ण होने पर यह शोध-कर्त्ताओं के लिये अपूर्व पथ-प्रदर्शक होगा और जैसा कि ओझा जी का खयाल है—"भविष्य में जो कोई इतिहास-वेत्ता इस देश (राजपूताने) का ऐसा इतिहास लिखने में प्रवृत होगा, उसको हमारा (ओझा जी का) यह इतिहास कुछ न कुछ सहायता अवश्य देगा"[2]।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रंथ विशेषरूपेण उल्लेखनीय नहीं है। श्रीचिंतामणि विनायक वैद्य महोदय का "हिस्ट्री आफ मेडीवल हिन्दू इंडिया" नामक ग्रंथ प्रारंभिक राजपूत काल के लिये एक विशद इतिहास है। हाँ, भिन्न-भिन्न रियासतों के सम्बंध में कुछ इतिहास-ग्रंथ अवश्य लिखे गए

---

१. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०', जिल्द १, भूमिका पृष्ठ ३६

२. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०', जिल्द १, भूमिका-पृ० ४४

हैं, जिनमें महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदासजी द्वारा संपादित "वीर-विनोद" का नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। किंतु खेद है कि इस ग्रंथ की शायद एकाध ही प्रति बाहर निकल पाई है, नहीं तो इसकी समग्र छपी हुई प्रतियाँ उदयपुर के राजगृह में बंद पड़ी सड़ रही हैं! जो हो, राजपूतों पर लिखे गए साहित्य को देखकर ओझा जी के इस कथन से सहमत होना पड़ता है कि "जहाँ अनेक भारतीय विद्वान् भारत-वर्ष के भिन्न-भिन्न कालों और प्रांतों के इतिहास लिख रहे हैं, वहाँ राजपूताने के इतिहास की तरफ किसी विद्वान् का ध्यान ही नहीं गया!"[१]

राजपूतों के इतिहास-संबंधी सामग्री की अपूर्णता

किंतु इस उपेक्षा का एक महान् कारण यह है कि राजपूतों के इतिहास से संबंध रखनेवाली सामग्री का भी बहुत कुछ अभाव है। आज भी बहुत-सी सामग्री भिन्न-भिन्न राज्यों के पुराने कागजों में अप्रकाशित एवं अज्ञात पड़ी है। अगर किसी उत्साही इतिहासकार को राज्यों के पुराने कागज ढूँढ़ने का अवसर मिले, तो संभव है कि राजपूतों के सच्चे इतिहास का बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त हो सके। ओझा जी ने अपना जीवन राजपूतों के इतिहास-संबंधी खोज में ही

---

२. गौ० शं० ही० चं० ओझा—'राज० का इति०', जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४४

बिताया है। उन्होंने बहुत-कुछ सामग्री एकत्र करके अपने ग्रंथ (राजपूताने का इतिहास) में उसका उपयोग किया है; किंतु फिर भी वे लिखते हैं कि "यदि प्राचीन शोध के कार्य में विशेष उन्नति हुई तो मेवाड़ में अनेक स्थानों में प्राचीन इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी, जिसकी सहायता से भविष्य में वहाँ का एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकेगा।"[१]

राजपूतों के इतिहास की लेखन-शैली में दोष

किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो ग्रंथ लिखे गए हैं, वे सर्वांगपूर्ण न होने पर भी राजपूतों के इतिहास का बहुत-कुछ पता देते हैं। हाँ, उनकी लेखन-शैली सदोष है, यह तो अवश्य मानना पड़ेगा। कर्नल सर जेम्स टॉड ने अपने ग्रंथ में राजपूतों का एक संबद्ध इतिहास न लिखकर अलग-अलग राज्यों तथा वंशों का इतिहास लिखा है, और ओझा जी ने उसी शैली का अनुसरण किया है। किंतु मेरे विचार के अनुसार, ठीक-ठीक इतिहास लिखने के लिये, इस शैली को छोड़ना अत्यावश्यक है। इस शैली में दो बड़े दोष विद्यमान हैं—

---

१. गौ० शं० ही० चं० ओझा 'राज० का इति०', जिल्द १, भूमिका-पृष्ठ ४३

प्रथम दोष तो यह है कि इसके अनुसार लिखे गए इतिहास में भिन्न-भिन्न वंशों का विवरण-मात्र होता है। ये इतिहास समग्र राजपूतों को एक जाति मानकर नहीं लिखे गए हैं। इस प्रकार लिखे जाने से राजपूतों के इतिहास की एकता नष्ट होती है। विभिन्न विभागों में विभक्त राजपूतों का इतिहास उतना भव्य तथा महान् नहीं दिखाई देता जितना वह सचमुच है। कर्नल जेम्स टॉड स्वयं इस शैली के दोष से परिचित थे। इसीलिये उन्होंने अपने ग्रंथ की भूमिका में यह लिखना अत्यावश्यक समझा कि "मेरा कभी यह ध्येय न रहा कि मैं अपने विषय को इतिहास की वैज्ञानिक शैली से लिखूँ; क्योंकि उसके फल-स्वरूप मुझे अनेकानेक ऐसी बातें छोड़ देनी पड़तीं जो राज-नीतिज्ञों तथा उत्सुक पाठकों के लिये उपयोगी एवं रोचक हैं। मैंने तो अपने इस ग्रंथ में भावी इतिहासकार के लिये केवल ऐतिहासिक सामग्री संकलित की है।"[१]

(१) राष्ट्रीय दृष्टिकोण की आवश्यकता

राजपूतों का इतिहास भारतीय इतिहास की एक साधारण घटना नहीं है। साथ ही, यहाँ यह भी कह देना अत्यावश्यक है कि राजपूतों का विरोध तथा विद्रोह केवल किसी एक जाति-समुदाय का ही न था, वरन् वह सभ्यता का विरोध था। राजपूत

१. टॉड—'ए० एंड एं० राज०', क्रुक्स-सं०, खंड १, प्रस्तावना पृष्ठ ६५

एक अतीव उन्नत एवं विकसित—किंतु पतित—सभ्यता के उत्तराधिकारी थे। अतएव उन प्रारंभिक दिनों में, जब भारत के मुस्लिम शासक विदेशी थे, राजपूतों का विद्रोह, राष्ट्रीय विद्रोह था। राजपूतों का इतिहास किसी एक जाति का ही इतिहास नहीं है। यह तो मध्यकालीन भारत के राष्ट्रीय जीवन का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है। यह वह पहलू है जिसकी ओर भारतीय इतिहासकारों का अभी तक ध्यान ही नहीं गया है। अतएव, आवश्यकता इस बात की है कि राजपूतों का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से लिखा जाय। यह सत्य है कि उनमें वंश-प्रतिष्ठा का विचार अधिक मात्रा में पाया जाता है, और इसी कारण उनमें एकत्र होने की प्रवृत्ति अधिक नहीं पाई जाती; किन्तु फिर भी उन्होंने कई बार मुसलमानों का सामना करने के लिये संगठन किया था। पुनः आपस के द्वेष और वैर-भाव के होते हुए भी उन सबमें एकजातीयता पाई जाती है। उनके इतिहास में भी एकजातीय एकता पाई जाती है, जिसके आधार पर उनका एक संगठित इतिहास लिखा जा सकता है। क्रुक्स के मतानुसार "जिस ग्रंथ में भिन्न-भिन्न राज्यों का इतिहास साथ-साथ लिखा जायगा, वह पाठकों के लिये कठिन तथा अरुचिकर होगा।"[१] किंतु जो दशा राजस्थान की थी, वही थोड़ी-बहुत उन्हीं दिनों योरप की थी। तो भी योरप का इतिहास लिखने में अधिक

---

२. टॉड—'ए० एंड एं० राज०'—क्रुक्स की भूमिका, पृष्ठ १२

कठिनाई न पड़ी। अतएव कोई कारण नहीं कि उसी शैली पर राजपूतों का इतिहास भी न लिखा जा सके; क्योंकि जब तक एक संगठित इतिहास न लिखा जायगा तब तक यह संभव नहीं कि पृथ्वीराज, राणा कुंभा, राणा साँगा, राणा प्रताप, दुर्गादास आदि जातीय वीरों को राष्ट्रीय वीरों की श्रेणी में स्थान दिया जा सके।

(२) इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों की उपादेयता

राजपूतों के इतिहास की लेखन-शैली में दूसरा दोष उसमें इतिहास-लेखन के नवीन आदर्शों का अभाव है। आजकल जो इतिहास-ग्रंथ लिखे जाते हैं, उनमें अधिकतर घटनाओं की ओर ही ध्यान दिया जाता है। संवत् के क्रम से घटनाओं के उल्लेख के कारण यह संभव नहीं होता कि जातीय जीवन में उठनेवाली भिन्न-भिन्न तरंगों तथा स्पष्ट एवं अदृश्य रूप से बहनेवाले भिन्न-भिन्न प्रवाहों का ठीक-ठीक विवेचन किया जा सके। "प्रत्येक काल से संबंध रखनेवाली उन गहन प्रवृत्तियों की—जो महान् परिवर्तनों के लिये रास्ता साफ़ करती हैं, तथा उन संयोगों की—जिनसे उस नए परिवर्त्तित स्वरूप का उद्‌गम होता है—आलोचना करना ही इतिहास का प्रधान उद्देश्य है। अतएव इतिहासकार का मुख्य कार्य यह है कि मानव-समाज की असंख्य अद्‌भुत घटनाओं की राशि में से वह उन अत्यावश्यक एकताओं का पता लगावे जो उन घटनाओं के तले अदृश्य रूप से पाई जाती

हैं।"[1] जब तक इन नवीन आदर्शों को संमुख रखकर राजपूतों का इतिहास न लिखा जायगा तब तक ठीक-ठीक इतिहास न लिखा जा सकेगा। राजपूतों की सभ्यता, उनकी शासन-शैली, उनका हिंदू-धर्म से संबंध—आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया है। राष्ट्र-निर्माण तथा जातीय पुनरुत्थान के इस युग में यह अत्यावश्यक है कि राजपूतों के जातीय जीवन में होनेवाले उत्थान और पतन का पूर्ण अध्ययन किया जाय, जिनके फल-स्वरूप मुगल-साम्राज्य के पतन के साथ ही राजपूतों का भी पतन हुआ। अपने जातीय जीवन के गुण-दोषों को ढूँढ़ना तथा उनकी विवेचना करना प्रत्येक जीवित जाति का कर्त्तव्य है। जब तक कोई जाति अपने दोषों को ढूँढ़कर उनको सुधारने के लिये प्रयत्न नहीं करती, तब तक उस जाति का पुनरुत्थान नहीं होता। संभव है, उसी दोष के फल-स्वरूप वह जाति विनष्ट भी हो जाय। जो इतिहास इस प्रकार की विवेचना से पूर्ण होते हैं, वे ही सच्चे इतिहास हैं, वे ही राष्ट्रीय जीवन के लिये उपादेय होते हैं।

आधुनिक भारत की नींव उसी अनंत उज्ज्वल अतीत पर स्थित है। आधुनिक परिस्थिति को समझने तथा आधुनिक राष्ट्रीय जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के लिये भूत-कालीन इतिहास का ज्ञान अत्यावश्यक है। पुनः प्रत्येक

---

१. रघुवीरसिंह—'पूर्व मध्यकालीन भारत', पृष्ठ १०-११

राष्ट्रीय इतिहास को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये यह अत्यावश्यक है कि राष्ट्र के सब अंगों का ठीक-ठीक इतिहास उसमें संनिहित हो। मध्यकालीन भारत में राजपूत ही हिंदुओं के नेता थे। मेवाड़ के महाराणा "हिंदुआ सूरज" कहलाते थे। अतएव जब तक राजपूतों की संस्कृति, उनके आदर्श, उनकी कला आदि का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं किया जायगा, तब तक यह संभव नहीं कि मध्यकालीन भारत का सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सके।

भारत को अपने भूतकाल पर गर्व है। भारतीय सभ्यता तथा भारतीय आदर्श संसार की एक अनोखी वस्तु है। किंतु आधुनिक भारतीय सभ्यता दो विभिन्न सभ्यताओं का संमिश्रण है। अतएव जब तक उसके दोनों उद्गमों की जाँच करके उनके महत्त्व तथा सापेक्ष्य प्रभाव को हम ठीक-ठीक जान न लेंगे तब तक उसे समझ लेना या उसके स्वरूप को पूर्णतया जान लेना हमारे लिये संभव नहीं। पुनः जब तक इस बात की पूरी खोज न हो सके कि उस स्वतंत्र हिंदू-भारत का आज क्या-क्या रह गया है और क्या-क्या विनष्ट हो गया, तब तक भविष्य का पथ निर्धारित नहीं किया जा सकता है। और, यह सब तभी हो सकता है जब उस स्वतंत्र हिंदू-भारत के अवशेष, मध्यकालीन भारत में पुरातन भारतीय सभ्यता के एकमात्र प्रतिनिधि, राजपूतों का यथार्थ इतिहास लिखा जाय तथा भारतीय इतिहास में उनके महत्त्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उनके इतिहास को समुचित स्थान दिया जाय। [जुलाई, १९३१ ई०]